भारत में आर्यों का आगमन

रामशरण शर्मा

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

7-5

भारत में आर्यों का आगमन

भारत में आर्यों का आगमन

रामशरण शर्मा

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

© *लेखक*

प्रथम संस्करण : जनवरी 1999, प्रतियाँ : 1100
पुनर्मुद्रण : मई 2003, प्रतियाँ : 2200
पुनर्मुद्रण : फरवरी 2017, प्रतियाँ : 1100

संयोजक मंडल
प्रो. मोहन
अध्यक्ष, सलाहकार समिति

डॉ. आशा गुप्ता
संयोजक

श्री शंभु शरण मिश्रा
सुरक्षा शर्मा
श्री धर्मेंद्र मीणा
सहसंयोजक

यह पुस्तक वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित की गई है।

मूल्य 60/- रूपये

ISBN 978-93-80172-69-9

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 10, केवेलरी लाइन, दिल्ली-110 007 द्वारा प्रकाशित तथा मैसर्स अरिहन्त ऑफसेट, प्लॉट नं 229, नंगली सकरावती इण्डस्ट्रीयल एरिया, नई दिल्ली-43, द्वारा मुद्रित।

वक्तव्य

आर्य मूल रूप से भारत के निवासी थे, या बाहर से आकर भारत में बसे थे, इस बात को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। **भारत में आर्यों का आगमन** नामक इस पुस्तक में **प्रो. रामशरण शर्मा** ने इसी प्रश्न पर विचार किया है।

इस पुस्तक का पहला संस्करण निदेशालय से सन् 1999 में प्रकाशित हुआ था। आज 2003 में हम इसका पुनर्मुद्रण प्रकाशित कर रहे हैं। वैसे हमारा यह प्रयास था कि हम इसका संशोधित संस्करण प्रकाशित करें लेकिन किन्हीं अपरिहार्य कारणों से यह संभव नहीं हो सका। अत: इसका पुनर्मुद्रण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। आशा है यह भी पहले संस्करण की तरह पाठकों के बीच लोकप्रिय होगा।

डा॰ सुजाता राय
कार्यवाहक निदेशक
हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

वक्तव्य

जैसा कि विदित है **हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय** दिल्ली विश्वविद्यालय के एक विभाग के रूप में हिंदी माध्यम के छात्रों के लिए उपयोगी पाठ्य-सामग्री तैयार करने का कार्य कर रहा है। निदेशालय ने विश्वविद्यालय के अनुभवी अध्यापकों के सहयोग से अनेक विषयों पर मानक पुस्तकें तैयार की हैं, जिनमें से कुछ तो संपादित पुस्तकें हैं जिन्हें अनेक लेखकों ने मिलकर तैयार किया है और कुछ ऐसी हैं जिन्हें अलग-अलग लेखकों ने अलग-अलग पुस्तकों के रूप में हमारे लिए तैयार किया है। इसके अलावा निदेशालय ने कुछ अनूदित पुस्तकों का भी प्रकाशन किया है जिनकी हिंदी माध्यम के छात्रों को आवश्यकता थी। इस प्रकार निदेशालय ऐसी मानक पुस्तकें तैयार कर रहा है जो अंग्रेजी में उपलब्ध पुस्तकों की तुलना में किसी भी दृष्टि से कम न हों।

प्रस्तुत पुस्तक सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रो. आर.एस. शर्मा की अंग्रेज़ी पुस्तक का हिंदी अनुवाद है। आर्यों की समस्या प्राचीन भारतीय इतिहास में ही नहीं, समूचे विश्व-इतिहास में एक अत्यंत विवादास्पद, जटिल और पेचीदा समस्या है। अनेक भारतीय और विदेशी इतिहासकार भारत को ही "आर्यों" की मूल-भूमि मानते हुए यहीं से उनके पश्चिमी एशिया, एशिया माइनर और यूरोप में प्रसार की धारणा को मानते हैं; जबकि अन्य अनेक उनका आगमन बाहर से भारत में आने की धारणा में विश्वास करते हैं। प्रो. शर्मा दूसरे मत के विद्वान हैं। आशा है कि छात्रों और अध्यापकों को ही नहीं, बल्कि सामान्य पाठकों को भी उनकी यह कृति रुचिकर लगेगी।

दिनांक : 5 जुलाई, 1999 (श्याम कश्यप)
निदेशक
हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

विषय–सूची

पृष्ठ

भूमिका

विषय प्रवेश 01-02

1. आर्य संस्कृति का विश्लेषण 01-15

(1) अश्व पालन और प्रसारण की प्रक्रिया 02-05
(2) युद्ध रथ 05-06
(3) आरे वाले पहिए 06-08
(4) भारतीय उपमहादेश में घोड़े के अवशेष 08-09
(5) दाह संस्कार 09-10
(6) अग्नि पूजा 10-11
(7) पशु बलि 11-12
(8) सोमपान की प्रथा 12- -
(9) स्वस्तिक 12-13
(10) भाषा और अभिलेख 13-15

2. सैंधव सभ्यता की पहचान 16-29
(1) हड़प्पा सभ्यता के विकास में सिंधु एवं सरस्वती की सापेक्षिक देन 16-19
(2) क्या हड़प्पाई संस्कृति ऋग्वैदिक थी? 19-26
(3) सैंधव सभ्यता और गांगेय संस्कृति 26-29

3. भारत में आर्य आगमन के भाषाई एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य 30-41
(1) भाषाई विभेद 30-31
(2) उत्तर में द्रविड़ भाषा का प्रचलन 31-32
(3) हिंद-आर्य भाषा का प्रसार 32-33
(4) उत्तर की हड़प्पोत्तर संस्कृतियों में आर्य 33-34
(5) आर्य आगमन का पुरातात्त्विक आधार 34-37

(6) प्राणी वैज्ञानिक प्रमाण 37-40
(7) उत्तर भारत में आर्य प्रसार का पुरातत्त्व 40-41
4. मध्य एशिया से देशांतर 42-52
(1) हिंद-आर्य और मध्य एशिया की संस्कृतियाँ 42-44
(2) देशांतर के कारण 44-45
(3) आद्य-हिंद आर्यों के मध्यवर्ती आवास स्थल और उनके आगमन मार्ग 45-47
(4) देशांतर संबंधी ग्रंथीय उल्लेख 47-50
(5) आर्य संस्कृति का उद्गम और विकास 50-51
(6) वैदिकोत्तर आक्रमण और स्थानांतरण 51-52

सारांश 53-54
बिब्लिओग्राफी 54-64
अनुक्रमणिका

भूमिका

1944 में मैंने प्राचीन काल में शूद्रों की अवस्था का अध्ययन प्रारंभ किया। इससे मुझे पता लगा कि आर्य और शूद्र में बहुत अन्तर है। हमारे धर्मशास्त्रकार ऊपर के तीनों वर्ण को, जिन्हें हम आज-कल सवर्ण कहते हैं, आर्य मानते थे और शूद्र को नहीं। किन्तु कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र में यह विधान है कि आर्यप्राण शूद्र को दास नहीं बनाया जा सकता है। इसका अर्थ यह था कि जिस शूद्र का जन्म आर्य माता-पिता से होता था उसे एक प्रकार से आर्य समझा जाता था। पर प्राचीन साहित्य में सामान्यत: आर्य को नस्ली रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है। आर्य शब्द से वर्ग-विभेद की भावना का संकेत मिलता है और एक ऐसे व्यक्ति का बोध होता है जो सभ्य, सुसंस्कृत हो एवं शीलवान। अतएव आर्य समुदाय की पहचान सांस्कृतिक आधार पर ही की जा सकती है। नस्ली तौर पर किसी आर्य समुदाय का वर्णन नहीं मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस समुदाय के पास प्राचीनतम काल में अपनी भाषा थी, अपने ढंग का सामाजिक संगठन था, तरह-तरह के धार्मिक अनुष्ठान और सामाजिक रीति-रिवाज थे। उनके जीवन में घोड़े और रथ का बहुत बड़ा महत्त्व था। मैंने आर्य संस्कृति के इन लक्षणों का विश्लेषण 1995 में प्रकाशित अपनी पुस्तक आर्य संस्कृति की खोज में किया। इसमें मैंने पूर्व यूरोप, मध्य एशिया और पश्चिम एशिया में पाए गए पुरावशेषों पर ध्यान दिया। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने आर्यों के भारत आगमन संबंधी पुरातात्त्विक, भाषाई ओर साहित्यिक साक्ष्यों एवं सामग्रियों का अध्ययन किया है।

1996 में संयुक्त राज्य अमरीका में एक गोष्ठी हुई जिसमें कुछ भारतीय विद्वानों ने भी भाग लिया। गोष्ठी में यह विचार प्रस्तुत किया गया कि आर्यों का उद्‌गम भारत में हुआ। इस गोष्ठी का आयोजन विश्व हिन्दू परिषद् के सहयोग से हुआ। यद्‌यपि भारत के बाहर और भीतर भी अधिकांश विद्वान आर्य समस्या पर शोध कर रहे हैं और बौद्धिक स्तर पर विवाद चला रहे हैं, भारत के अन्दर कुछ हिन्दूत्ववादी लेखकों ने इस विवाद को विकृत कर दिया है। वे यहाँ की पत्र-पत्रिकाओं में जब-तब ऐसे प्रचारात्मक लेख निकालते रहते हैं जिनमें सैन्धव सभ्यता को वैदिक सभ्यता बतलाते हैं। कई ऐसे लोग हैं जो सैंधव लिपि को संस्कृत मानकर चलते हैं, किन्तु इसका पठन भी संस्कृतवादी अलग-अलग ढंग से करते हैं। एक ही चित्राक्षर को कोई अग्नि पढ़ता है और कोई ओम् पढ़ता है। उनके अलग-अलग पढ़ने का कारण यह

है कि वास्तव में वे सैंधव लिपि नहीं पढ़ पाए हैं। अन्य विद्वानों के निरन्तर प्रयास के बावजूद भी अभी तक सैंधव लिपि नहीं पढ़ी जा सकी है। यद्यपि इस पुस्तक में सैंधव लिपि पर विचार नहीं किया गया है पर उस सभ्यता के विभिन्न पक्षों की जाँच की गई है और वैदिक सभ्यता की विशेषताओं से उनका अन्तर दिखलाया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन में पुरातत्त्व पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। व्हीलर जैसे पुरातत्त्वविदों ने भारत में पुरातत्त्व की प्रगति में बहुत योगदान दिया, औपनिवेशिक विचारधारा के प्रभाव में स्पूनर और व्हीलर ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि भारत की भौतिक प्रगति में बाहर के देशों का बहुत बड़ा हाथ है। उदाहरण के लिये व्हीलर ने बतलाया कि सिंधु सभ्यता में नगरीकरण मेसोपोटामिया के प्रभाव के कारण हुआ। उसी प्रकार ऐतिहासिक पुरातत्त्व की व्याख्या में उन्होंने भारत में रोमन प्रभाव पर बार-बार जोर दिया। कई जगहों में पाये गये पुराने बरतनों और अन्य वस्तुओं पर उन्हें रोम का असर दिखलायी पड़ा। व्हीलर जैसे पुरातत्त्वविदों की जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई। व्हीलर ने लिखा कि आर्य आक्रमण के कारण हड़प्पाई सभ्यता नष्ट हुई। पर भारतीय और कुछ विदेशी विद्वानों ने ठीक ही बतलाया कि इस आक्रमण के पुरातात्त्विक प्रमाण नहीं हैं। पर हिन्दूत्ववादी पुरातत्त्वविदों की प्रतिक्रिया तर्क एवं शोध की सीमा को पार कर गयी। वे कहने लगे कि भारत में जो भी प्राचीन वस्तुएं मिलती हैं वे विशुद्ध भारतीय हैं। कुछ लोगों के अनुसार भारत में ही सभ्यता का जन्म हुआ और यहाँ से वह संसार के और भागों में फैली। इस तरह की पुनरुत्थानवादी दृष्टि ने क्षेत्रीय इतिहास के लेखन को भी विगाड़ दिया है। कुछ लोग अपने-अपने क्षेत्र की अकारण प्रशंसा में जुट गये। उन्होंने देश के अन्य भाग के सांस्कृतिक योगदान को अनदेखा किया, ठीक उसी प्रकार जैसे हिन्दूत्ववादी विश्व के अन्य देशों की सांस्कृतिक देन को नकारते हैं और केवल अपना ढोल बजाते हैं। इस तरह की हिन्दूत्ववादी विचारधारा के कारण प्राचीन भारत के इतिहास का बड़ा अनिष्ट हुआ।

इधर पुरातत्त्व में विश्व स्तर पर प्रसारवादी सिद्धान्त के प्रतिक्रियास्वरूप स्थानीयतावादी पुरातात्त्विक सिद्धान्त का प्रचार चल पड़ा है। इसके प्रचार के कारण हिन्दूत्ववादियों को बल मिलता है। हमारी दृष्टि में पुरातात्त्विक प्रगति के लिये दोनों प्रसारवादी और स्थानीयतावादी सिद्धान्त उपयोगी हैं। साक्ष्यों के आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि ये सिद्धान्त कब, कहाँ और कैसे लागू होते हैं। प्राचीन भारत की आर्य संस्कृति के पुरातात्विक पक्ष के अध्ययन की अवहेलना नहीं की जा सकती है। इससे पता चलेगा कि इस संस्कृति का कोई लक्षण भारत में प्रारम्भ से मिलता है या नहीं। यह भी पता लगाना जरूरी है कि आर्य संस्कृति के विभिन्न विशेषताएं कब और कहाँ पहले-पहल दिखायी पड़ती हैं, और फिर ये क्यों, कब और कैसे भारत पहुँचती हैं। भारत से हमारा अभिप्राय भारतीय उपमहादेश से है जिसमें पाकिस्तान भी पड़ता है। जैसाकि पुस्तक में बतलाया गया है आर्य समुदाय की पहचान अश्वपालन, दाहकर्म, गर्त्तवास, भूर्ज वृक्ष की लकड़ी के प्रयोग जैसी विशेषताओं से होती है,

और ये सब पाकिस्तान के उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र में दूसरी सहस्राब्दि ई॰ पू॰ के मध्य में पायी जाती हैं।

प्राचीन काल में ईरानी और भारतीय अपने को आर्य समझते थे। ज़ेंद अवेस्ता में, जिसका संबंध पूरबी ईरान और अफगानिस्तान से है, ईरानियों के आर्य होने के अधिक प्रमाण मिलते हैं। कई प्राचीन स्थान के नाम में आर्य शब्द का प्रयोग हुआ है। अरिया नामक देश आजकल के ईरान में पड़ता था। ऋग्वेद में इतने प्रमाण नहीं मिलते हैं। पर इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों प्राचीन ग्रन्थों की भाषा हिंदू-यूरोपीय भाषाभाषियों की पूरबी शाखा में पड़ती है। पश्चिमी शाखा के बोलनेवाले यूरोप में रहने लगे, यद्यपि जहाँ-तहाँ यूरोप में भी गैर हिंद-यूरोपीय भाषाएं चलती रहीं। हिंद-यूरोपीय भाषा की पूरबी शाखा के बोलनेवाले ईरान और भारत में आये। भारत के अधिकांश भाग में हिंद-आर्य भाषा फैल गयी, पर यहाँ के काफी बड़े हिस्से में गैर-हिंद आर्य भाषाएं भी फलती-फूलती रहीं। यह भी सोचना गलत होगा कि केवल पूरबी शाखा के बोलनेवाले ही पूरबी यूरोप से एशिया आये। इसमें एक बड़ा उपवाद दिखायी पड़ता है। तुषार मध्य एशिया में आये, पर उनकी भाषा हिंद-यूरोपीय की पश्चिमी शाखा है। लगता है कि वे तीसरी सहस्राब्दि ई॰ पू॰ में येनेसी नदी पर अलटाई पर्वत क्षेत्र में आये, और बाद में दक्षिण दिशा में तारीम बेसिन में बस गये। संभवत: कालक्रम में वे हिंद-ईरानी भाषा बोलने लगे। शक-कुषाणों के साथ ये भारत में भी आये। संस्कृत के तुषार शब्द का अर्थ ठंडा इसलिए होता है क्योंकि तुषार लोग ठंडे देश में रहते थे।

सारी हिंद-यूरोपीय भाषाओं में एक प्रकार की मौलिक समानता है। ऐसे बहुत-से सजातीय शब्द हैं जो अलग-अलग रूप में प्राचीन काल की पूरबी और पश्चिमी शाखा की हिंद-यूरोपीय भाषाओं में पाये जाते हैं। पर यह कहना कठिन है कि सारे के सारे हिंद-आर्य जो भारत आए उनके सभी पूर्वज केवल हिंद-यूरोपीय भाषा ही बोलते थे। संभव है कि कुछ गैर-हिंद यूरोपीयों ने भी कालक्रम में हिंद-यूरोपीय भाषा को अपनाया हो। ऐसा कहा जाता है कि आर्य का अर्थ बंधु-बांधव या साथी होता है, और यह शब्द गैर-हिंद यूरोपीय है जिसे पश्चिमी एशिया से उधार लिया गया। जो भी हो। इसमें संदेह नहीं कि आदय हिंद-ईरानी और आद्य हिंद-आर्य लोग ऐसी भाषाएं बोलते थे जिनके बीच निकटतम समानता थी। ऋग्वेद और ज़ेंद अवेस्ता के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

हिंद-यूरोपीय भाषाभाषियों के प्राचीनतम शब्दों, भाषाओं और साहित्य के अध्ययन से एक प्रकार की संस्कृति का पता चलता है जो अश्व-केन्द्रित थी। प्राचीनतम आर्य अथवा हिंद-यूरोपीय घोड़े पालते थे, चक्के वाली गाड़ियों का प्रयोग करते थे और खेती की अपेक्षा अधिकतर पशुपालन के सहारे जीते थे। ऐसा भी वर्णन है कि वे जमीन को खोद कर तहखाने में घर बना कर रहते थे। घर बनाने में वे भूर्ज की लकड़ी का प्रयोग करते थे। पशु बलि का अनुष्ठान करते थे। वे मुर्दों को गाड़ते थे और साथ-ही-साथ दाह संस्कार भी करते थे। उनका प्राचीन साहित्य बतलाता है कि आर्यों का समाज पुरुषप्रधान था। इस प्रकार की

संस्कृति की पुरातात्त्विक खोज की गयी है। पहले-पहल यह संस्कृति पाँचवी सहस्त्राब्दि ई॰ पू॰ में यूक्रेन में मध्य नीपर नदी के घास वाले इलाके में मिलती है। 4500-3500 ई॰ पू॰ में यहाँ के लोग घोड़े का पालन करते थे। वे घुड़सवारी करते थे और घोड़े को कब्जे में रखने के लिये हरिण सींग के बने ढंपने से उसके गाल को ढकते थे। वहाँ के लोगों की मुख्य जीविका पशुपालन थी, और वे ऐसे घरों में रहते थे जो जमीन में कुछ अंश तक गड़ा रहता था। इस सभ्यता का दूसरा पुरातात्त्विक चरण यामिन्या संस्कृति में 3600-2200 ई॰ पू॰ में मिलता है। यह संस्कृति बहुत बड़े क्षेत्र में पश्चिम में काला सागर के इलाके से लेकर पूरब में वोल्गा यूराल क्षेत्र तक फैली हुई थी। यहाँ घोड़े की सवारी के अनेक उदाहरण मिलते हैं। यहाँ के लोग तहखाने वाले घरों में रहते थे। इस सभ्यता में तांबा अधिक मिलता है, और साथ-ही-साथ पहली बार गाड़ियों में चक्कों का प्रयोग मिलता है। किन्तु इन गाड़ियों को बैल चलाते थे। यहाँ के कब्रगाहों में पशु बलि की प्रथा मिलती है।

हिंद-यूरोपीय सभ्यता का तीसरा महत्वपूर्ण चरण मध्य एशिया की अन्द्रोनॉवो संस्कृति में मिलता है। ऐसे तो यह संस्कृति लगभग सारे मध्य एशिया में दूसरी सहस्त्राब्दि ई॰ पू॰ में फैली हुई थी पर इसका सबसे महत्त्वपूर्ण नमूना दक्षिणी यूराल में कज़रखस्तान के पश्चिम सिनतस्ता नदी पर 1700 ई॰ पू॰ के आस-पास मिलता है। यहाँ घोड़े के रथ मिलते हैं, और उनमें पहले-पहल आरे वाले पहिए भी पाए गए हैं। अनद्रोनॉवो संस्कृति के स्थलों पर घोड़ों की संख्या सारे जानवरों की एक तिहाई है। यहाँ के लोग तहखाने वाले घरों में रहते थे और इन घरों के बनाने में और लकड़ियों के साथ भूर्ज वृक्ष की लकड़ी का इस्तेमाल खास तौर पर होता था। ध्यान रहे कि 'भूर्ज' संस्कृत शब्द है जो कई प्राचीन-हिंद-यूरोपीय भाषाओं में पाया जाता है।

आर्य सभ्यता का चौथा पुरातात्त्विक चरण बैक्ट्रिया-मार्जियाना क्षेत्र में पाया जाता है। इस जिसमें दक्षिणी तुर्कमेनिस्तान, दक्षिणी उजबेकिस्तान और उत्तरी अफगानिस्तान पड़ते हैं। ये सारे इलाके दक्षिणी मध्य एशिया में पड़ते हैं और भारत की उत्तरी-पूरबी सीमा से बहुत दूर नहीं हैं। पुरातात्त्वविदों के अनुसार इस क्षेत्र में 1900-1500 ई॰ पू॰ में हिंद-आर्य सभ्यता के सारे लक्षण पाये जाते हैं। कुछ विद्वानों की राय है कि ऋग्वेद में जिस सभ्यता का वर्णन है उसका भौतिक स्वरूप यहाँ मिलता है।

यद्यपि चारों चरणों की सभ्यताओं में अश्वपालन और अन्य विशेषताओं को लेकर मौलिक समानता है किन्तु इनका काल बिल्कुल अलग-अलग नहीं है। जैसे अन्द्रोनॉवो और दक्षिणी मध्य एशिया में पायी गयी संस्कृति के काल में अधिक अन्तर नहीं है। अन्द्रोनॉवो की सभ्यता को आद्य हिंद-ईरानियों और आद्य हिंद-आर्यों की सम्मिलित सभ्यता मानी जाती है। किन्तु दक्षिण तुर्कमेनिस्तान और उत्तर अफगानिस्तान में पायी गयी सभ्यता को हिंद-आर्यों की कृति मानी जाती है।

अभी तक पुरातत्त्वविद यह समझते थे कि हिंद-आर्य भारत में केवल ईरान से आये।

यह बात इसलिए कही जाती है क्योंकि स्वात नदी की घाटी में जो बरतन पाये गये हैं वे ईरानी बरतनों से मिलते हैं। किन्तु 1970-90 में मध्य एशिया में सोवियत उत्खनकों के प्रयास के फलस्वरूप नयी जानकारी प्राप्त हुई है। इससे पता चलता है कि दक्षिणी मध्य एशिया के अनेक पुरावशेष स्वात घाटी से मेल खाते हैं। खासकर अश्व पालन और दाह कर्म दक्षिणी मध्य एशिया में पाये जाते हैं, और 1400 ई० पू० से वे स्वात नदी और गोमल नदी की घाटियों में पाये जाते हैं। अतएव दक्षिण मध्य एशिया से हिंद-आर्यों के भारत आगमन का प्रबल प्रमाण है।

हिंद-आर्य ईरान से आये, दक्षिणी मध्य एशिया से आये या दोनों जगहों से आये, इस पर इस पुस्तक में विचार किया गया है। यह भी बतलाया गया है कि सैंधव सभ्यता वैदिक थी या नहीं। साथ ही यह भी बतलाया गया है कि हिंद-आर्य भारत से ईरान और मेसोपोटामिया गये अथवा मध्य एशिया से। भारत में आर्य संस्कृति के लक्षण पहले कब, कहाँ, क्यों और किस रूप में पाए जाते हैं, इस पर प्रकाश डाला गया है। भारत में हिन्द-आर्य भाषा के पहले कौन सी भाषा बोली जाती थी और इस भाषा के अवशेष उपमहादेश के उत्तरी भाग में प्रचलित हिंद-आर्य भाषाओं में मिलते हैं या नहीं, इसको भी ध्यान में रखा गया है। फिर हिंद-आर्य भाषा कैसे फैली, इसका भी विश्लेषण किया गया है। पर इस प्रकार के सारे प्रश्नों पर और भी शोध और विचार करने की आवश्यकता है। आशा है कि इस पुस्तक से पाठकों का ध्यान इन मुद्दों की ओर आकर्षित होगा।

इस पुस्तक के लिखने में प्रो० अंजनी कुमार सिन्हा, डा० सीता राम राय, प्रो० राजेश्वर प्रसाद सिंह, डा० मृत्युञ्जय कुमार और डा० अंजनी कुमार से मुझे सहायता मिली है जिसके लिये मैं इन महानुभावों के प्रति अपना आभार प्रगट करता हूँ और उन्हें धन्यवाद देता हूँ।

—रामशरण शर्मा

विषय प्रवेश

लगभग 200 वर्षों से आर्य समस्या पर विवाद चल रहा है। आर्य अथवा हिंद-यूरोपीय जन का मूल स्थान कहाँ था उसके विषय में एक दर्जन से अधिक स्थापनाएँ हैं, और वे किन-किन रास्तों से होकर चले इस पर भी तरह-तरह के विचार हैं। ये सारी मान्यताएँ देश एवं काल तथा बौद्धिक एवं राजनीतिक अवस्थाओं से प्रभावित होती हैं। कुछ मान्यताएँ इस बात पर जोर देती हैं कि नस्ल और भाषा की दृष्टि से आर्य जन एक प्रकार के थे, परंतु दूसरी मान्यताओं में इस प्रकार के निष्कर्ष के प्रति शंका प्रकट की गई है और विशेषकर आर्यों की नस्ली एकता को गलत बतलाया गया है।[1] जो भी हो तरह-तरह की खामियों के बावजूद भी पुराने विद्वानों की देन की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। आर्य समस्या में अभिरुचि जगने से और धर्म प्रचार के लिए ईसाई मिशनरियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए 1872 में ब्रिटिश विद्वान मोनियर-विलियम्स ने **ए संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी** नामक शब्दकोश प्रकाशित किया। आज भी यह प्रकाशन महत्त्व के संदर्भ-ग्रंथ का काम कर रहा है। इसका महत्त्व इसलिए है कि मोनियर-विलियम्स प्रथम अँग्रेज विद्वान थे जिन्होंने हिंद-यूरोपीय भाषा की पूर्वी और पश्चिमी शाखाओं में संस्कृत शब्दों के सजातीय पदों को ढूँढ़कर निकाला।

सौ साल से आर्य संबंधी शोध बढ़ रहा है। इस दौरान बहुत-सी पुरानी मान्यताओं को बदला गया है और उनके स्थान पर नयी मान्यताएँ आई हैं। मैक्समूलर जैसे प्रसिद्ध विद्वान के साथ भी इस प्रकार की घटना घटी है। अपने शोध के प्रारंभ में उन्होंने यह स्थापित किया कि हिंद-यूरोपीय भाषा बोलने वाले हिंद-यूरोपीय नस्ल के थे, किंतु 1888 में उन्होंने इस स्थापना पर प्रश्न चिन्ह लगाया था।[2] इसमें संदेह नहीं कि

---

1. जॉर्ज इरडोसी, सं॰, दि इंडो-आर्यन्स् ऑव एन्शॅन्ट साउथ एशिया, मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली, 1997 में केनेथ ए॰आर॰ केनेडी, "हैव आर्यन्स् बिन आइडेन्टिफाइड इन दि प्रीहिस्ट्रॉरिक स्केलेटल रिकॉर्ड फ्रॉम साउथ एशिया? बाइअलॉजिकल एन्थ्रपॉलजि एंड कॉनसेप्ट्स् ऑव एन्शॅनट रेसेज"; पृ॰ 32-66; थामस आर॰ ट्रौटमन, आर्यन्स् एंड ब्रिटिश इंडिया, विस्तार प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1977.
2. दि बाइऑग्रेफीइज् ऑव दि वॅर्डस एंड दि होम ऑव दि आर्यन्स्, लन्दन, 1888.

हिंद-यूरोपीय समस्या पर शोध करने वाले विद्वानों के कारण भाषाशास्त्र और प्राचीन इतिहास दोनों समृद्ध हुए हैं। पर इतना होने पर भी समस्या पर अधिक शोध करने तथा आर्यों के इतिहास को फिर से लिखने की आवश्यकता है।

हाल के वर्षों में भारतवर्ष में आर्य संबंधी विवाद राजनीतिक कारणों से विकृत होता जा रहा है। कुछ हिंदुत्ववादी लेखक इस बात पर जोर देने लगे हैं कि आर्य भारतवर्ष के मूल निवासी थे और उन्होंने सैंधव सभ्यता का निर्माण किया।[1] इस प्रकार की संकीर्ण विचारधारा को कुछ पश्चिमी पुरातत्त्वविदों के लेखन से प्रश्रय मिलता है, क्योंकि ये पुरातत्त्वविद प्रक्रियावादी हैं और इनकी दृष्टि में प्रत्येक स्थान की संस्कृति केवल स्थानीय घटकों के कारण पैदा होती है और पनपती है। हिंदूत्ववादी स्थापनाओं की विश्वसनीयता की जाँच ठीक से तब हो सकती है यदि हम आर्य संस्कृति के लक्षणों का विश्लेषण संकीर्ण होकर केवल भारत की दृष्टि से न करें वल्कि विस्तृत दायरे में करें। हमें यह भी देखना है कि प्राचीन ग्रंथों और भाषाशास्त्र के आधार पर पाई गई सांस्कृतिक विशेषताएँ पुरातात्त्विक वास्तविकता से मेल खाती हैं या नहीं।

---

1. के॰ डी॰ सेठना, दि प्रॉब्लम ऑव आर्यन्स् ऑरिजिन फ्रॉम एन इंडियन पर्सपैक्टिव, एस एंड एस पॅब्लिशर्स, कलकत्ता, 1980; ए॰ राय एंड बी॰ मुखर्जी, सं॰, हिस्टॉरिकल आर्किअलॉजि, बुक्स एंड बुक्स, दिल्ली, 1990 में ए॰ के॰ विश्वास, "दि आर्यन्स् मिथ", पृ॰ 30-59.

संक्षिप्ताक्षर

पा॰ टि॰	पाद टिप्पणी
प्रा॰	प्राइवेट
पृ॰	पृष्ट
सं॰	संपादित
इ॰ आई॰ ए॰	एन इनसाइकलोपेडिया ऑव इंडियनऑर्किअलॉजि
जे॰ आई॰ इ॰ एस॰	जर्नल ऑव इंडो-यूरोपियन स्टडीज
एस॰ बी॰ इ॰	सेकरेड बुक्स ऑव दि ईस्ट

1. आर्य संस्कृति का विश्लेषण

वैदिक, ईरानी और यूनानी ग्रंथों के आधार पर तथा विभिन्न आद्य हिंद-यूरोपीय भाषाओं में पाए जाने वाले सजातीय शब्दों की सहायता से आर्य संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं को निर्धारित किया जा सकता है। प्राचीन ग्रंथों में **ऋग्वेद, ज़ेंद अवेस्ता** और होमर रचित **इलियड** तथा **ओडिसी** आते हैं। इनके तिथि निर्धारण की कसौटियों के बारे में विशेषज्ञों के बीच मतभेद हैं, किंतु हमलोग उन तिथियों का सहारा ले सकते हैं जिन्हें विद्वानों ने सामान्यत: स्वीकार किया है। इस दृष्टि से **ऋग्वेद** को 1500 ई०पू० में रखा जाता है यद्यपि इसके कुछ अंश 1000 ई०पू० तक आते हैं। **ज़ेंद अवेस्ता** की तिथि 1400 ई०पू० में रखी जाती है और होमर की रचनाओं को 900-800 ई०पू० के निकट रखा जाता है। इन ग्रंथों में ऐसे विवरण नहीं हैं जिन्हें इतिहास की कोटि में रखा जा सकता है। किंतु तो भी इनसे इतिहास की सामग्री प्राप्त हो सकती है। ये ग्रंथ विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों के हैं तो भी वे ऐसे काल मे लिखे गये थे जब तांबे और कांसे का प्रयोग चल रहा था। होमर की रचनाओं के परवर्ती अंशों में लोहे की भी चर्चा है। सामान्यत: ग्रंथों से पता चलता है कि लोगों की जीविका मुख्यत: खेती और पशुपालन से चलती थी। ग्रंथों और सजातीय शब्दों से आर्य संस्कृति के प्रमुख लक्षण जाने जाते हैं। आर्य जन शीतोष्ण जलवायु में रहते थे। वे घोड़े पालते थे जिनका प्रयोग छकड़ा चलाने और सवारी करने दोनों में होता था। कुछ ग्रंथों से पता चलता है कि वे छकड़े में आरे वाली पहियों का इस्तेमाल करते थे। वे तीर-धनुष से लड़ते थे और तीरों को तरकस में रखते थे। उनके समाज में पुरुष की प्रधानता थी। मुर्दे को वे गाड़ते थे, किंतु जलाते भी थे। ईरान और भारत में रहने वाले हिंद-यूरोपीय भाषाभाषी अग्नि पूजा करते थे और सोम रस का पान करते थे। सभी हिंद-यूरोपीय समुदायों में पशुबलि प्रचलित थी। पर आर्य संस्कृति की सबसे प्रमुख विशेषता हिंद-यूरोपीय भाषा थी।

प्रश्न उठता है कि इन विशेषताओं को कहाँ और कब की पुरातात्त्विक संस्कृति में खोजा जाए। जहाँ तक प्राचीन ग्रंथों में वर्णित आर्य संबंधी विषय वस्तु का संबंध है उसे उत्तर नवपाषाण युग तथा प्रारंभिक काँस्य युग में रखा जा सकता है। भूगोल की दृष्टि से हम पूर्वी यूरोप एवं मध्य एशिया पर विचार कर सकते हैं क्योंकि इनका भौगोलिक संबंध भारत, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान, इराक, अनातोलिया और यूनान से है। प्राचीन काल से ही इस विशाल क्षेत्र में विभिन्न समुदाय के लोग हिंद-यूरोपीय भाषा

बोलते थे। सजातीय शब्दों से जिस प्रकार के जलवायु, पशु-पक्षी जगत और वृक्षों का पता चलता है उनके आधार पर हम यह कल्पना नहीं कर सकते हैं कि प्रारंभिक आर्य जन गर्म क्षेत्रों में रहते थे। अतएव आर्य संस्कृति की खोज में हमें पूर्वी यूरोप और मध्य एशिया के विशाल क्षेत्र को ध्यान में रखना है।

अश्व पालन और प्रसारण की प्रक्रिया

आर्य संस्कृति की पहचान में घोड़े का स्थान बहुत ऊंचा है। हिंद-यूरोपीयों के प्रारंभिक जीवन में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। **अश्व** और इसके सजातीय शब्द संस्कृत, **अवेस्ता** की भाषा, यूनानी, लैटिन और अन्य हिंद-यूरोपीय भाषाओं में मिलते हैं। **वेद** और **अवेस्ता** की भाषा में बहुत से व्यक्तियों के नाम **अश्व** केन्द्रित हैं। 1000 ई.पू. के पहले वैदिक काल में हमें इस प्रकार के पचास घोड़े वाले नाम मिलते हैं और तीस रथ वाले।[1] हेरोडोटस ने कुछ ईरानी जनजातियों के नाम बतलाये हैं जो घोड़े के नाम पर हैं। उसी प्रकार 17वीं सहस्त्राब्दि ई.पू. में बेबिलोनिया पर हमला करने वाले कस्सियों के नाम का संबंध भी घोड़े से है। विभिन्न रूपों में **ऋग्वेद** में **अश्व** की चर्चा 215 बार है। किसी दूसरे जानवर की चर्चा इतनी बार नहीं है। **गो** की चर्चा 176 बार है और **वृषभ** (बैल) की चर्चा 170 बार है। **गो** और **वृषभ** के बारम्बार उल्लेख से जीवन यापन के लिये पशुपालन की प्रधानता प्रतीत होती है। किंतु जहां तक सामाजिक संरचना का प्रश्न है गोपालकों पर अश्वधारियों का वर्चस्व था। उल्लेखनीय है कि **ऋग्वेद** पर मध्य एशियाई प्रभाव होने के कारण उष्णकटिबंध क्षेत्रों के कई जानवरों की चर्चा नहीं है। इसमें बाघ और गैंडे के नाम नहीं मिलते हैं। गाय, बैल और घोड़े के उल्लेखों की तुलना में सिंह, हाथी और भैंस की चर्चा बहुत कम पड़ती है।

ऋग्वेद के दो पूरे सूक्त में घोड़े की प्रशंसा की गयी है।[2] लगभग सारे वैदिक देवताओं का संबंध घोड़े से है और यह विशेषत: इन्द्र और उनके साथी मरूतों पर लागू होता है। यद्यपि वैदिक जन बहुधा प्रजा (संतति) और पशु के लिए प्रार्थना करते हैं तो भी वे स्पष्ट रूप से घोड़े की कामना करते हैं तथा कभी-कभी एक हजार घोड़े मांगते हैं। **अवेस्ता** में पशु धन अधिक महत्त्व का दिखायी पड़ता है किंतु घोड़े का अपना स्थान है। मिथ्र देवता की प्रार्थना में घोड़े और रथ के उल्लेख बार-बार आते हैं।[3] सूर्य के विषय में कहा

---

1. **जर्नल ऑव इंडो-यूरोपियन स्टडीज़** (आगे से जे.आई.इ.एस. के रूप में संक्षिप्त), 12, 1984 में मोर्टन स्मिथ, "वॉट इज इन ए नेम (इन एनशॅन्ट इंडिया), पृ. 306.
2. 1.161-62.
3. **सेकरेड बुक्स ऑव दि ईस्ट** (आगे से **एस॰ बी॰ इ॰** के रूप में संक्षिप्त), जिल्द 23, **दि ज़ेंद अवेस्ता,** अनु. जे. डरमेस्टर, भाग-2, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रण, 1988, पृ॰ 136, 138, 152, 157.

जाता है कि उनके पास तेज चाल वाले घोड़े हैं।[1] बहुत बाद भारत की मूर्ति कला में सात रथ वाले सूर्य की प्रतिमा बहुत जगहों पर दिखायी पड़ती है। अपाम् नपात् नामक दूसरे देवता को भी **अवेस्ता** में तेज घोड़े वाला बतलाया जाता है।[2] इस देवता का उल्लेख **ऋग्वेद** में भी है। ईरानी धर्म प्रवर्तक जरथ्रुष्ट्र युवा राजा विस्तास्प को आशीर्वाद देते हैं कि उसके पास अनेक घोड़े हों। वे देवताओं से प्रार्थना करते हैं कि युवा राजा को तेज घोड़े और शक्तिशाली सुपुत्र प्राप्त हो।[3] यह भी ध्यान रखने का विषय है कि विस्तास्प के नाम में ही केवल **अस्प** अर्थात **अश्व** शब्द का प्रयोग नहीं होता है बल्कि यह शब्द कई और सरदारों और योद्धाओं के नाम में पाया जाता है। ये नाम हैं : पोरसास्प (जरथुष्ट्र के पिता), करेसास्प, गुश्तास्प और गमास्प।[4] ईरान के शासक वर्ग के जीवन का घोड़ा ऐसा अभिन्न अंग बन गया था कि धार्मिक अथवा अन्य अपराधों के लिये जिस कोड़े से अपराधियों को मारा जाता था वह **अस्फे-अस्त्र** कहा जाता था।[5] **गाथा** को **अवेस्ता** का सबसे प्राचीनतम अंश माना जाता है। पर **अवेस्ता** में इसके कुछ ही भाग पाये जाते हैं, और इनमें घोड़े के उल्लेख अधिक नहीं हैं।[6] किंतु सामान्यतया घोड़े से **अवेस्ता** का अच्छा परिचय है।[7] साथ ही साथ इसमें रथ में लगाने वाले घोड़े[8] और सवारी करने वाले घोड़े[9] के उल्लेख खास तौर पर हैं।

घोड़े और घोड़े वाले रथ दोनों होमर की रचनाओं में समान रूप से महत्वपूर्ण हैं।[10] **इक्वेरी** नामक व्यक्ति सरदार के घोड़े की देखरेख करता था और इस पद का नाम **ओडिसी** में बार-बार आता है।[11] अतएव वैदिक, ईरानी और यूनानी ग्रंथों से स्पष्ट है

---

1. एस० बी० इ०, जिल्द 23, पृ. 142, 305-51) जिल्द 31, पृ. 256, 271.
2. वही, जिल्द 21, पृ. 219.
3. वही, जिल्द 23, पृ. 328, 340.
4. वही, जिल्द 23, पृ. 324-29; तुलना करें जिल्द 31, पृ. 235, 247, पा. टि. 49 सहित, पृ. 250.
5. वही, जिल्द 4, **दि ज़ेंद अवेस्ता,** भाग-1, भूमिका, पृ. 96.
6. वही, जिल्द 31, पृ. 173-174.
7. वही, पृ. 173, 199, 204, 216, 270-71, 276.
8. वही, जिल्द 23, पृ. 136, 138.
9. वही, पृ. 124, पा. टि. 3 सहित।
10. **दि इलिअड,** अनु. इ.वी. रिउ, पेनगुइन, हरमण्ड्सवर्थ, पुनर्मुद्रण, 1986, अध्याय 23, पृ. 412-19.
11. **दि ओडसी,** अनु. इ.वी. रिउ, पेनगुइन, हरमण्ड्सवर्थ, पुनर्मुद्रण, 1986, अध्याय 8, पृ. 125.

कि प्राचीन हिंद-यूरोपीय भाषाभाषी घोड़े से भली-भांति परिचित थे। इसकी पुष्टि पश्चिमी एशिया में दूसरी सहस्त्राब्दि ई. पू. के कुछ अभिलेखों से भी होती है।

अश्व पालन का प्राचीनतम पुरातात्त्विक साक्ष्य भारतीय महादेश से काफी दूरी पर मिलता है। पश्चिम में नीपर नदी और पूरब में वोल्गा नदी के बीच ऐसे घोड़ों की सबसे बड़ी संख्या मिलती है। पुरातत्त्व बतलाता है कि घोड़ा पहले-पहल दक्षिण यूराल क्षेत्र में 6000 ई.पू. के आस-पास मिलता है।[1] प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद मेरिजा गिम्बुटस का यह कहना है कि वोल्गा स्टेप के गड़ेरियों ने संभवत: पहले-पहल घोड़े को पालतू बनाया था,[2] यद्यपि उसी काल में घोड़े के अवशेष काला सागर के इलाके में भी मिलते हैं। काला सागर के निकट होने के कारण घोड़ा चौथी सहस्त्राब्दि ई.पू. अनातोलिया में पाया जाता है। तीसरी सहस्त्राब्दी ई.पू. आते-आते घोड़े काफी संख्या में साइबेरिया में मिलते हैं। दक्षिणी-पूरबी ईरान में तीसरी सहस्त्राब्दि ई.पू. के प्रारंभ में एलम की लिपि में घोड़े का भाव चित्र मिलता है। सुमेर की लिपि में भी इस प्रकार का भाव चित्र 2500 ई.पू. के आस-पास मिलता है।[3] किंतु पश्चिमी एशिया के जीवन में चौथी सहस्त्राब्दी ई.पू. और तीसरी सहस्त्राब्दि ई.पू. के प्रथमार्द्ध में घोड़े की कोई महत्त्व की भूमिका दिखायी नहीं पड़ती है। ऐसा लगता है कि तीसरी सहस्त्राब्दि ई.पू. के अन्त में घोड़े की जानकारी दक्षिणी-पूरबी ईरान के स्याल्क-III नामक स्थान[4] और दक्षिणी अफगानिस्तान के मुंडिगक[5] नामक स्थान में भी थी। ऐसा लगता है कि पालतू होने के बाद भी घोड़े का काफी पैमाने पर प्रयोग बहुत दिनों के बाद ही हुआ। यद्यपि घोड़े की जानकारी छठी

---

1. करेंट एन्थ्रपॉलिजि, जिल्द 27, संख्या 4, अगस्त-अक्टूबर 1986 में डेविड अन्थोनी के लेख, " 'दि कुरगन कल्चर', इंडो-यूरोपियन ऑरिजिनस एंड दि डोमेस्टिकेशन ऑव दि हॉर्स : ए रीकन्सिडरेशन" पर देखिए मैरिजा गिम्बुटस का विचार, पृ. 306; **ऐनटिक्विटि,** जिल्द 62, संख्या 236, सितम्बर 1988 में एम. ज्वेलेविल और के.वी. ज्वेलेविल के लेख, "एग्रिकल्चरल ट्रांजिशन एंड इंडो-यूरोपियन डिस्पर्सल्स" में उद्धृत जी. मत्युशिन की उक्ति, पृ. 581.
2. **करेंट एन्थ्रपॉलिजि,** जिल्द 27, संख्या 4, अगस्त-अक्टूबर 1986, पृ. 306.
3. **जे.आई.इ.एस.,** जिल्द 13, 1985 में आई.एम. दिआकोनोव, "ऑन दि ऑरिजिनल होम ऑव दि स्पीकर्स ऑव इंडो-यूरोपियन", पृ. 168, पा.टि. 2 सहित।
4. ए.एच. दानी एंड वी.एम. मैसन, सं॰, **हिस्ट्री ऑव सिविलाइजेशन इन सेंट्रल एशिया,** जिल्द I, यूनेस्को पब्लिशिंग हाउस, पेरिस, 1992 में एम. टोसी, एस. मल्लिक शाहमिरज़ादी एंड एम.ए. जोयेंड, "दि ब्रॉन्ज एज इन ईरान एंड अफगास्तिान", पृ. 191.
5. वही, पृ. 217.

सहस्त्राब्दि ई.पू. में दक्षिण यूराल और काला सागर के बीच वाले क्षेत्र में हुई, इसका आम इस्तेमाल 2000 ई.पू. के आस-पास आकर हुआ। इसमें संदेह नहीं है कि प्रारंभिक अवस्था में आद्य-ईरानी और आद्य-वैदिक भाषा के बोलने वाले लोग इसका प्रयोग काफी पैमाने पर करते थे। इन्हीं के सम्पर्क में आने के कारण अन्य कबीलों ने घोड़े को अपनाया। हत्तियों के अभिलेख में तथा हिब्रू, अकाड्डी और कॉकससी भाषाओं में जो घोड़े के लिये शब्द मिलते हैं उनका संबंध **अश्व** से है।[1] 19वीं शताब्दी ई.पू. के उत्तरार्द्ध में पश्चिमी एशिया में घोड़े के प्रयोग के अभिलेखीय साक्ष्य मिलते हैं। घोड़े पर सवार होकर लोग इराक की सीमा पर हमला करते थे। इस सन्दर्भ में कस्सियों का उल्लेख नहीं है। यद्यपि उन्हीं के आगमन के कारण 17वीं शताब्दी ई.पू. में इस क्षेत्र में घोड़े आये। बेबीलोनिया में जब पहले-पहल घोड़ा आया तो लोग उसे पहाड़ी गधा के नाम से पुकारते थे।

युद्ध रथ

हिंद-यूरोपीय रथ चलाने में घोड़ों का प्रयोग खूब करते थे और इस बात की जानकारी वैदिक ग्रंथ, **अवेस्ता** और होमर की रचनाओं से मिलती है। परवर्ती वैदिक ग्रंथों में वर्णित **वाजपेय यज्ञ** में रथों की जिस दौड़ की चर्चा की गयी है वह दौड़ यूनान में भी प्रचलित थी[2] और होमर ने इसका पूरा वर्णन किया है।[3] आद्य-हिंद-यूरोपीय भाषा में रथ के लिये दो शब्द चलते हैं। उनमें से प्रत्येक आधे दर्जन हिंद-यूरोपीय भाषाओं में प्रचलित हैं। उसी प्रकार धुरी, जोत और नाभि के लिये जो सजातीय शब्द हैं वे छः हिंद-यूरोपीय भाषाओं में पाये जाते हैं। कई हिंद-यूरोपीय भाषाओं में घोड़े पर चढ़ने के लिए एक ही प्रकार की क्रिया मिलती है।[4] उसी तरह हत्ती और संस्कृत में रथ में जोतने के लिये जिन शब्दों का व्यवहार होता है वे एक प्रकार के हैं। आद्य-हिंद-यूरोपीय भाषा में पहिए के लिये दो अलग-अलग शब्द हैं।[5] संभवतः दो में से एक शब्द उनका अपना नहीं है। इसे व्यापार और दूसरे प्रकार के अन्य सम्पर्क के कारण हिंद-यूरोपीयों ने पश्चिमी एशिया से सीखा। किन्तु पहिया वाली गाड़ी स्टेपवासियों के जीवन में इस तरह

1. ए.एच. दानी एंड वी.एम. मैसन, सं., उद्धृत पुस्तक, में जे. हरमट्टा "दि इमरजेन्स ऑव दि इंडो-ईरानियन्स् : दि इंडो-ईरानियन लैंग्वेजेज", पृ. 369-372.
2. आर.एस. शर्मा, **एसपेक्ट्स ऑव पलिटइकल आइडिआज् एंड इन्स्टिट्यूशन्स इन एन्शॅन्ट इंडिया**, चौथा संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1996, पृ. 165-66.
3. **दि इलिअड**, अध्याय 23, पृ. 419-21.
4. जे.पी. मेलॉरी, **इन सर्च ऑव दि इंडो-यूरोपियन्स लैंग्वेज, आर्किअलॉजि एंड मिथ**, टेम्स एंड हडसन, पेपरबैक संस्करण, लन्दन, 1991, पृ. 274 पा.टि. 20.1 सहित, पृ. 274-75, पा.टि. 25 सहित।
5. वही, पृ. 274-75, पा.टि. 25 सहित।

समा गयी कि इसके लिये जो उधार लिया हुआ शब्द है वह भी कई हिंद-यूरोपीय भाषाओं में फैल गया। यह कहा जाता है कि चौथी सहस्राब्दि ई.पू. में पश्चिम एशिया में चक्केवाला रथ का आरंभ हुआ, और उसी समय यह दक्षिण रूस के स्टेपों में पहुंचा। दक्षिण रूस की खुदाइयों में 3000 ई.पू. से रथ होने का प्रमाण मिलता है। तीसरी सहस्राब्दि ई.पू. में दो या तीन पहिएवाले रथ मिलते हैं। मितानी शासकों के नाम से पता चलता है कि 1400 ई.पू. के आस-पास वे रथों का प्रयोग करते थे। बहुत से ऐसे शब्द मिलते हैं। ये हैं "दौड़ते रथों का स्वामित्व", "रथों का सामना करना" और "बड़े घोड़ों का स्वामित्व"। हिंद-ईरानी उपाधि "रथ चालक" की भी चर्चा है।[1] एक मितानी राजा का नाम दशरथ है जिसका अर्थ होता है दस रथों को रखनेवाला। भारत के बाहर काठ के पहिए मिलते हैं, किंतु 2000 ई.पू. तक साधारणत: उनमें आरे नहीं होते थे। हड़प्पाई सन्दर्भ में मिट्टी के बने खिलौने में पहिए मिलते हैं किन्तु उनका तिथि निर्धारण ठीक से नहीं हो सकता है। ऐसा लगता है कि वे 2000 ई.पू. के पहले के नहीं हैं।

आरे वाले पहिए :

उत्तर पूरबी ईरान में स्थित हिसार नामक स्थान में और उत्तरी कॉकसस क्षेत्र में 2300 ई.पू. के लगभग आरे वाले पहिए मिलते हैं।[2] बेलना जैसे मुहर पर छ: आरे वाले पहिए का रथ हिसार में मिला है और इसका समय 1800 ई.पू. है।[3] यह कहा जाता है कि 19वीं शताब्दी ई.पू. में हत्ती लोगों ने अनातोलिया जीतने के लिये ऐसे रथों का इस्तेमाल किया जिनमें आरे वाले पहिए थे। आगे बतलाया जायेगा कि ऐसे रथ पश्चिमी कज़ख़स्तान के बगल में दक्षिण यूराल क्षेत्र में इसी समय के लगभग मिलते हैं। 1500 ई.पू. आते-आते पूरबी यूरोप और पश्चिमी एशिया के कई स्थानों में आरे वाले पहिए मिलने लगते हैं।

हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो में मिट्टी के बने खिलौने के चक्के में आरे नहीं मिलते हैं। हरियाणा के हिसार जिले में अवस्थित बनावली नामक स्थान में हड़प्पाकालीन आरे वाले पहियों के होने की बात कही जाती है। इस स्थान के उत्खनक आर.एस. बिष्ट

---

1. **जर्नल ऑव सेंट्रल एशिया,** जिल्द 1, संख्या 1, 1978 में वाई.वाई. कुज़मिना एंड के.एफ. स्मीरनोव, "दि ऑरिजिन ऑव दि इंडो-ईरानियन्स इन दि लाइट ऑव रिसेन्ट आर्किअलॉजिकल डाटा", पृ. 69.
2. **करेंट एन्थ्रपॉलिजि,** जिल्द 29, संख्या 39, जून 1988 में डेविड डब्ल्यू. अन्थोनी एंड वर्नर्ड वेल्स का लेख, पृ. 443.
3. **दि कैम्ब्रिज एन्शॅन्ट हिस्ट्री,** जिल्द 1 और 2 का संशोधित संस्करण, अध्याय 26, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1968 में रॉबर्ट एच. डाइसन (जूनियर), 'दि आर्किअलॉजिकल एविडेंस ऑव दि सेकेन्ड मिलेनइअम बी.सी. ऑन दि परसियन प्लैटो", पृ. 5.

बतलाते हैं कि मिट्टी के पहिए पर कुछ लकीरें हैं जो आरे जैसे लगते हैं।[1] अतएव वास्तव में ये आरे नहीं माने जा सकते हैं। यह भी ध्यान रहे कि बनावली का हड़प्पा चरण 2425–1250 ई.पू. तक रखा गया है।[2] इस लम्बे काल में आरे का प्रयोग कब हुआ, यह भी नहीं बतलाया गया है। यह भी उल्लेखनीय है कि बिष्ट जी के प्रकाशित लेखों में इन आरे वाले पहिए की चर्चा नहीं है।[3] सूरज भान भी हिसार जिले के मितथल स्थान में मिट्टी की छोटी चकती के एक ऐसे टुकड़े का उल्लेख करते हैं जिसमें पाये गये लकीरों से आरे का बोध होता है, और वे इस चकती का समय 1800 ई.पू. रखते हैं।[4] किन्तु उनकी पुस्तक में दिये गये प्लेट नं॰ 21 पर जो लकीरें दिखलायी गयी हैं[5] वे अलंकरण जैसा दिखती हैं। अतएव हिसार जिले के दोनों स्थानों में आरे वाले चक्के का होना संदेहपूर्ण है और यदि सचमुच में इनका प्रचलन था तो हिंद-आर्यों के सम्पर्क में आने के कारण यह 1500 ई.पू. के लगभग आया होगा। सच तो यह है कि हड़प्पाई संस्कृति में वास्तविक आरे वाले पहियों के नमूने नहीं मिले हैं।[6]

दूसरी सहस्राब्दि ई.पू. में घोड़े के अवशेष दक्षिण मध्य एशिया, ईरान और अफगानिस्तान में पाये जाते हैं। 1500 ई.पू. तक आते-आते घोड़े और रथ की आकृतियां किरगिजिया, अल्टाई क्षेत्र, मंगोलिया, पामीर पहाड़ और सबसे बढ़कर ताजिकिस्तान में मिलती हैं।[7]

---

1. आर.एस. बिष्ट से मिली मौखिक जानकारी के आधार पर।
2. **क्रनोलजिइज इन ओल्ड आर्किअलॉजि**, सं., रॉबर्ट डब्ल्यू. इहरिच, जिल्द 1, तृतीय संस्करण, यूनिवर्सिटी ऑव चिकागो प्रेस, 1992 में जिम जे॰ शैफर, "इंडस वैली, ब्लूचिस्तान एंड दि हेलमण्ड"।
3. ग्रेगारी एल. पोसेल, सं., **हड़प्पन सिविलाइज़ेशन : ए कनटेम्परारि पर्सपैक्टिव**, ऑक्सफोर्ड एंड आइ.बी.एच. पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1982 में आर.एस. बिष्ट, "एक्सकवेशन एट बनावली : 1974-77", पृ. 113-39. तुलना करें ए. घोष, सं., **एन इनसाइक्लोपेडिया ऑव इंडियन आर्किअलॉजि** (आगे से **इ.आई.ए.** के रूप में संक्षिप्त), जिल्द-II, मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली, 1989, पृ. 45-46 में बनावली पर ए. बैनर्जी का लेख।
4. सुरज भान, एक्सकवेशन एट मितथल (1968) एंड अदर इक्सप्लोरेशन इन दि सतलज-यमुना डिवाइड, कुरूक्षेत्र युनिवर्सिटी प्रेस, कुरूक्षेत्र, 1973, पृ॰ 68-70.
5. वही।
6. इ॰ आई॰ ए॰, जिल्द-I, सं॰, ए॰ घोष, मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली, 1989, पृ॰ 338.
7. इनटरनैशनल जर्नल ऑव द्राविडियन लिंग्विसटिक्स, XVII, संख्या 2 में अएस्को परपोला, "दि कमइंग ऑव दि आर्यन्स टू ईरान एंड इंडिया एंड दि कलचरल एंड एथनिक आइडेन्टिटि ऑव दि दासाज", पृ॰ 143; तुलना करें साउथ एशियन आर्किअलॉजी, 1989, सं॰, कैथरीन जारिज, प्रीहिस्ट्री प्रेस, मडिसन, 1992 में हेनरी-पॉल फ्रैंकपोर्ट, "न्यू डाटा इलस्ट्रेटिंग दि अर्ली कॉन्टेक्टस बिट्वीन सेंट्रल एशिया एंड दि नौर्थ वेस्ट ऑव दि सबकॉटिनेंट", पृ॰ 99.

भारतीय उपमहादेश में घोड़े के अवशेष :

तीसरी सहस्राब्दि ई.पू. वाले घोड़े के कुछ अवशेषों की उपमहादेश में होने की चर्चा की जाती है किंतु ये सभी संदेहास्पद लगते हैं। रिचर्ड मिडो नामक अमेरिकी पुरातत्त्वविद् ने अवशेषों का ठीक से अध्ययन किया है और उनके अनुसार 2000 ई.पू. तक उपमहादेश में घोड़े की हड्डियों के मिलने का स्पष्ट प्रमाण नहीं है। उनका कहना है कि बलूचिस्तान के काची मैदान में अवस्थित पिराक में सच्चे घोड़े के मिलने का प्राचीनतम साक्ष्य मिलता है।[1] शैफर का भी यही विचार है, और उनके अनुसार पिराक I-II की तिथि 2000 से 1300 ई.पू. तक पड़ती है।[2] घुड़सवारों की मिट्टी की बनी आकृतियां पिराक में पायी गयी हैं, और उनका समय 1800 से 1300 ई.पू. तक है। घोड़े के अवशेष और उसके साज-बाज स्वात घाटी में अवस्थित गंधार संस्कृति में 1400 ई.पू. और उसके बाद मिलते हैं। पिराक, गोमल घाटी और स्वात घाटी में घोड़े के आगमन का संबंध इसके प्रसार से है। हड़प्पाई और चित्रित धूसर भांड संस्कृतियों का सम्मिश्रण हरियाणा के भगवानपुरा स्थल में मिलता है जहां घोड़े की हड्डियां पायी गयी हैं। जिन स्तरों में हड्डियां पायी गयी हैं उनका समय 1400–1000 ई.पू. है।[3] संभवतः सुरकोटदा में पाया गया घोड़ा पिराकी घोड़े का समकालीन था। नगरोत्तर हड़प्पाई चरण में मोहेनजोदड़ो, हड़प्पा, लोथल और रोपड़ में घोड़ा मिलता है। इधर हड़प्पा की खुदाई 1980 से 1993 तक हुई, और धोलावीरा की भी खुदाई चल रही है पर कहीं भी घोड़े के अवशेष मिलने की खबर नहीं है। इसी प्रकार हड़प्पा के नगरीय चरण में आरे वाले पहिए भी नहीं मिलते हैं। यह ध्यान रहे कि घोड़े का महत्व हड़प्पा की बाद वाली संस्कृतियों में अथवा गैर-हड़प्पाई संस्कृतियों में पाया जाता है, जैसे गोमल और स्वात की घाटियाँ तथा धूसर भांड वाले स्थान। हस्तिनापुर के चित्रित धूसर भांड वाले स्तर

---

1. ओल्ड प्रॉब्लमस एंड न्यू पर्सपेक्टिव्स ऑव दि आर्किअलॉजि ऑव साउथ एशिया, सं॰, जे॰ एम॰ केनोयर, यूनिवर्सिटी ऑव विस्कॉनसिन, 1989 में रिचर्ड मिडो, "कान्टिन्यूइटि एंड चेंज इन दि ऐग्रिकलचर ऑव दि ग्रेट इंडस वैली: दि पैलिऑइथनोबोटानिकल एंड जूआर्किअलॉजिकल एविडेंस," पृ॰ 70 जिसे स्टासूल ने साउथ एशियन आर्किअलॉजी, 1989, पृ॰ 268 में उद्धृत किया है; तुलना करें आर॰ डब्ल्यू॰ इहरिच, सं॰, क्रनोलजिइज़ इन ओल्ड आर्किअलॉजि, जिल्द 1, 1992 में जिम जे॰ शैफर, "इंडस वैली, बलूचिस्तान एंड दि हेलमण्ड", पृ॰ 459.
2. इहरिच, सं॰, उद्धृत, पुस्तक में शैफर का लेख, पृ॰ 458-59.
3. जे॰ पी॰ जोशी, एक्सकवेशन एट भगवानपुरा 1975-76, ए॰ एस॰ आई॰, जनपथ, नयी दिल्ली, 1993, पृ॰143-147.

में घोड़े की हड्डियाँ लगभग 500 ई॰पू॰ में मिलती हैं[1], और इसी भांड वाले स्तरों में उत्तर भारत के कई अन्य स्थानों पर भी मिट्टी के घोड़े मिलते हैं।

दाह-संस्कार

घोड़े के व्यवहार के साथ-साथ दाह-संस्कार भी आर्य संस्कृति की विशेषता बन गई। वैदिक, अवेस्ताई और होमर वाले साहित्य में इस प्रथा की चर्चा है। यह प्रथा परिपक्व हड़प्पाई संस्कृति में नहीं पायी जाती है। हड़प्पाई लोग मुर्दों को जमीन में गाड़ते थे। फिर इसमें बहुत बदलाव आया। यह बदलाव 1500 ई॰ पू॰ के आस पास हड़प्पा स्थित सिमेटरी-एच के पाये गये बरतन में मुर्दे को रखकर गाड़ने की प्रथा से प्रारंभ होता है। कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें समाधियों में जली हुई हड्डियां मिलती हैं। पहले लोग सोचते थे कि सिमेटरी-एच की संस्कृति केवल हड़प्पा तक सीमित थी किन्तु अब 72 ऐसे स्थल हैं जहां सिमेटरी-एच वाली सामग्रियां पायी जाती हैं।[2] ह्वीलर सिमेटरी-एच वाली संस्कृति को हड़प्पोत्तर काल में रखते हैं।[3] विद्वान आमतौर पर स्वीकार करते हैं कि सिमेटरी-एच प्रथा से नये लोगों के आगमन की सूचना मिलती है।

दाहोपरांत समाधि बनाने की प्रथा गुजरात की हड़प्पाई संस्कृति में मिलती है, किंतु इस प्रथा का तिथि निर्धारण कठिन है। सुरकोटदा का साक्ष्य संदेहास्पद है। अधिक से अधिक हम उस प्रथा को 2000 ई॰पू॰ से पहले नहीं रख सकते हैं, और इसी समय से हड़प्पा के नगरोत्तर चरण का प्रारंभ होता है। संभवतः इस प्रथा का प्रारंभ उपमहादेश में बाहरी सम्पर्क के कारण हुआ। यह ठीक है कि हड़प्पाई संस्कृति में चिड़ियों और जानवरों की हड्डियां जलाकर गाड़ी जाती थीं किंतु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि मनुष्य का शरीर भी जलाया जाता था जैसे कुछ लोगों का विचार है।[4]

दाह-संस्कार की प्रथा पांचवीं सहस्त्राब्दि ई.पू. में प्रारंभ हुई। 5000-4000 ई.पू. में इसके उदाहरण पोलैंड, जर्मनी, पूरबी यूरोप, इराक और उत्तरी मध्य एशिया के कज़खस्तान में मिलते हैं। किंतु अभी तक यह स्पष्ट नहीं हुआ है कि घोड़े पालने वाले

---

1. ए॰ घोष, सं॰, इ॰ आई॰ ए॰, जिल्द-1, मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली, 1989, पृ॰ 107-08, 338.
2. दानी एंड मैसन, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में दानो, "पैस्टॉरल-ऐग्रिकलचरल ट्राइब्स इन दि पोस्ट-इंडस पिअरइअड," पृ॰ 399.
3. सर मार्टिमर व्हीलर, दि इंडस सिविलाइज़ेशन, तृतीय संस्करण, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1968, पृ॰ 69.
4. एम॰ के॰ धवलीकर, कल्चरल इम्पिअरअलिज्म (इंडस सिविलाइज़ेशन इन वेसट्र्न इंडिया), बुक्स एंड बुक्स, नयी दिल्ली, 1995, पृ॰ 200.

लोगों ने कब और कहां दाह-संस्कार की प्रथा को अपनाया। जो भी हो इसमें संदेह नहीं कि 1500 ई.पू. आते-आते यह प्रथा यूरोप एवं एशिया दोनों में चली गयी, और यह पूर्वी मध्य एशिया के चीनी भाग में पहुंच गई। भारतीय उपमहादेश में घोड़े पालनेवालों ने पहले-पहल स्वात की घाटी में इस प्रथा का श्री गणेश किया। बाहरी सम्पर्क के कारण कुछ हड़प्पाई लोगों ने भी इसे अपनाया होगा पर इसका स्पष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। यह भी ध्यान रहे कि स्वात की घाटी से 500 कि.मी. की दूरी पर दक्षिण एशिया के ताजिकिस्तान देश में यह प्रथा 1400 ई.पू. के लगभग पायी जाती है।[1]

अग्नि पूजा

अग्नि पूजा हिंद-आर्यों और हिंद-ईरानियों की विशेषता मानी जाती है। ऋग्वेद में वेदि की चर्चा है और ज़ेंद अवेस्ता में अग्नि पूजा बड़े महत्व का है। कुछ लोग अग्नि पूजा को हड़प्पाई मानते हैं किंतु जो 'अग्नि वेदियां' गुजरात के लोथल नामक स्थान और राजस्थान के कालीबंगन स्थल में पायी गयी हैं उन्हें स्वयं उत्खनक भी सच्ची वेदियां नहीं मानते हैं। एस.आर. राव के विचार में लोथल की वेदियां चूल्हे हो सकती हैं।[2] कालीबंगन में आग रखने की जगह को बी.बी. लाल वेदि इसलिए बतलाते हैं क्योंकि इसके लिए कोई और समुचित शब्द उन्हें नहीं मिलता है।[3] जो भी हो इतना तो स्पष्ट है कि हड़प्पाई संदर्भ में जिस प्रकार की वेदिकायें मिली हैं उनका वर्णन न तो प्राचीन ग्रंथों में मिलता है और न तो उनकी आकृति प्राचीन परम्पराओं के अनुरूप है। अग्नि पूजा प्राचीन काल में अनेक समाजों में होती होगी और इसमें सैंधव सभ्यता को भी शामिल किया जा सकता है। लेकिन यह स्थापित नहीं किया जा सकता कि हड़प्पा की वेदिकाओं का रूप वैदिक वेदियों जैसा है। यह उल्लेखनीय है कि दक्षिण यूक्रेन में 4000-3500 ई.पू. में कुछ ऐसे अग्नि स्थल मिले हैं जिनसे अग्नि पूजा होने का तो अनुमान होता है पर उन्हें वैदिक अग्नि वेदी की संज्ञा नहीं दी जा सकती है।[4]

पशु बलि

पशु बलि आर्य संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान था किंतु इस तरह से यह पशुचारी जनजातीय समाज में हर जगह पायी जाती है। अतएव इससे कोई बड़ा निष्कर्ष नहीं निकाला

---

1. आर॰ एस॰ शर्मा, लुकिंग फॉर आर्यन्स्, ओरिएन्ट लौंगमैन, मद्रास, 1994, पृ॰ 52-59.
2. लोथल, ए हड़प्पन पॉर्ट टाउन, ए॰ एस॰ आई, नयी दिल्ली, 1979.
3. बी॰ बी॰ लाल एंड एस॰ पी॰ गुप्ता, सं॰, फ्रान्टिअर्स ऑव दि इंडस सिविलाइज़ेशन, बुक्स एंड बुक्स, नयी दिल्ली, 1984 में बी॰ बी॰ लाल, "सम रिफ्लेक्शनस ऑन दि स्ट्रकचरल रिमेन्स एट कालीबंगा", पृ॰ 57.
4. मैलॉरी, उद्धृत पुस्तक, पृ॰ 53, 203-04.

जा सकता है। प्राचीनतम पशुपालक दूध और इससे बनी चीजों को पाने के लिये गाय नहीं पालते थे। द्रविड भाषाभाषी गोंड जनजाति के एक समुदाय का अभी भी यह विश्वास है कि दूध पर वास्तव में बछड़े का हक बनता है, अतएव प्राचीन पशुपालक गाय और अन्य पशुओं को मांस खाने के लिए पालते थे, दूध पीने के लिए नहीं। ऐसा लगता है कि मांसाहारी भोजन प्राप्त करने के लिये पशु बलि की अनुष्ठान का विकास किया गया। यूक्रेन और दक्षिण रूस के कब्रों में चौथी और तीसरी सहस्त्राब्दि ई.पू. के श्राद्ध कर्म में पशु बलि के अनेक उदाहरण मिलते हैं। दक्षिण मध्य एशिया में दूसरी सहस्त्राब्दि ई.पू. और उसके बाद भी इसी तरह के उदाहरण मिलते हैं। ऐसा लगता है कि लोगों के जीवनकाल में पशु बलि प्रचलित थी। मरणोपरांत भी यह अनुष्ठान इसलिए किया जाता था कि मृतकों को परलोक में भोजन मिलता रहे।

वैदिक समाज में अश्वमेध का विशिष्ट स्थान था। किन्तु वेदों के फ्रांसीसी विद्वान लुई रेनू का मानना है कि अश्वमेध हिंद-यूरोपीय अनुष्ठान था। यह प्रथा प्राचीन रोम और मध्यकालीन आयरलैंड में प्रचलित थी। अश्व बलि संबंधी प्राचीनतम पुरातात्त्विक प्रमाण उसी प्रकार का है जैसा पशु बलि के संबंध में है। यूक्रेन और दक्षिण रूस के अनेक कब्रगाहों में एक से अधिक घोड़े की बलि का उदाहरण है। इस प्रथा का जन्म पांचवी सहस्त्राब्दि ई.पू. के परवर्ती भाग में हुआ। बाद की सदियों में यह काफी फैल गयी, और मध्य एशिया में मध्य काल तक चलती रही। भारत में वैदिक युग में इसे अश्वमेध का रूप दिया गया जिसका वर्णन परवर्ती वैदिक ग्रंथों में विस्तार से है। उपमहादेश में प्राक् वैदिक काल में भी शायद पशु बलि होती होगी किंतु अभी तक इसका पुरातात्त्विक साक्ष्य नहीं प्राप्त हुआ है। चूंकि 18वीं शताब्दी ई.पू. तक भारत में घोड़े के मिलने का पक्का प्रमाण नहीं है इसलिए इसकी बलि का प्रश्न ही नहीं उठता है। पूर्व मध्यकालीन भारत में शक्ति के विभिन्न रूपों की पूजा में भैंसे का बलिदान बड़ा अनुष्ठान बन गया। परन्तु यह जानवर पूरबी यूरोप एवं मध्य एशिया में शायद ही मिलता था, और इसलिए उन क्षेत्रों में भैंसे के मारने का अनुष्ठान प्रचलित नहीं था।

सोमपान की प्रथा

सोमपान की प्रथा केवल ईरानी और वैदिक जनों में प्रचलित थी। "स" का "ह" में बदल जाने के कारण **अवेस्ता** में सोम के बदले होम शब्द का प्रयोग होता है। सोम के पौधे की पहचान पर बहुत दिनों से विवाद चल रहा है। किंतु अब इफेड्रा नामक पौधे की पहचान कुछ लोग सोम से करते हैं। इफेड्रा की छोटी-छोटी टहनियां बरतनों में दक्षिण-पूरबी तुर्कमेनिस्तान में तोगोलोक-21 नामक मंदिर के परिसर में पाये गये हैं। इन

बरतनों का व्यवहार सोमपान के अनुष्ठान में होता था।[1] यद्यपि इस पहचान[2] की मान्यता बढ़ रही है तो भी निर्णायक साक्ष्य के लिए खोज जारी है।[3]

स्वस्तिक

स्वस्तिक (卐) आर्यत्व का चिह्न माना जाता है। जब जर्मनी में नात्सियों ने इसे विशुद्ध आर्यत्व का प्रतीक घोषित किया तो इसका विश्वव्यापी महत्त्व हो गया। वैदिक साहित्य में स्वस्तिक की चर्चा नहीं है। यह शब्द ई० सन् की प्रारंभिक शताब्दियों के ग्रंथों में मिलता है जबकि धार्मिक कला में इसका प्रयोग शुभ माना जाता है। किंतु ओरेल स्टाइन का मत है कि यह प्रतीक पहले-पहल बलूचिस्तान स्थित शाही टुम्प की धूसर भांडवाली संस्कृति में मिलता है जिसे हड़प्पा से पहले का माना जाता है और जिसका संबंध दक्षिण ईरान की संस्कृति से स्थापित किया जाता है।[4] स्टाइन की दृष्टि में स्वस्तिक का प्रतीक अनोखा है क्योंकि ऐसा प्रतीक भारतीय और पश्चिमी एशिया के संस्कृतियों में नहीं मिलता है किंतु अरनेस्ट मैके के अनुसार यह सबसे पहले-पहल एलम अर्थात् आर्य पूर्व दक्षिण ईरान में प्रकट होता है।[5] स्वस्तिक वाले ठप्पे हड़प्पाई संस्कृति में और अल्तीन-देपे में पाये गये हैं[6] और उनका समय 2300-2000 ई० पू० है।[7] शाही टुम्प में स्वस्तिक प्रतीक का प्रयोग श्राद्ध वाले बरतनों पर होता था, और 1200 ई.पू. के लगभग दक्षिण ताजिकिस्तान में जो कब्रगाह मिले हैं उनमें कब्र की जगह पर इस प्रकार का चिह्न मिलता है।[8]

---

1. इनटरनैशनल जर्नल ऑव द्राविडियन लिंग्विस्टिक्स, XXCII, संख्या-2 में अएस्को परपोला, "दि कमइंग ऑव दि आर्यन्स् टू इंडिया एंड दि कल्चरल एंड एथ्निक आइडेन्टिटि ऑव दि दासाज", पृ० 146-47.
2. वही, पृ० 146.
3. इरडोसी, सं०, उद्धृत पुस्तक, में हैरी निबर्ग, "दि प्रॉब्लम ऑव दि आर्यन्स् एंड दि सोम: दि बोटानिकल एविडेंस", पृ० 382-406.
4. एच० डी० साँकलिया, दि प्रीहिस्ट्री एंड प्रोटोहिस्ट्री ऑव इंडिया एंड पाकिस्तान, दक्कन कालेज पोस्टग्रैड्यूएट एंड रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना, 1974, पृ० 323-24.
5. वही। यद्यपि स्वस्तिक कुछ हड़प्पाई मुहरों पर मिलता है, मैके के अनुसार यह सिंधु घाटी की विशेषता नही है। उनके अनुसार यह एलम में बहुत पहले मिला। अर्ली इंडस सिविलाइज़ेशन, डोरथी मैके के द्वारा परिवर्द्धित एवं संशोधित द्वितीय संस्करण, इंडोलॉजिकल बुक कॉपोरेशन, दिल्ली, 1976, पृ० 71-72.
6. दानी एंड मैसन, सं०, उद्धृत पुस्तक, में वी० एम० मैसन "दि ब्रॉन्ज एज इन खोरासन एंड ट्रांसऑक्सियाना", पृ० 242.
7. वहीं, पृ० 237.
8. दानी एंड मैसन, सं०, उद्धृत पुस्तक, में लिट्विंस्की एंड पयंकोव "पेस्ट्रॉरल ट्राइब्स ऑव दि ब्रॉन्ज एज इन दि आक्सस वैली (बैक्ट्रिया)", पृ० 394.

800 ई.पू. के आस-पास अलंकरण के रूप में प्रतीक धूसर चित्रित भांडों पर मिलता है जो घरेलू काम में लगाये जाते थे।[1] इसलिए स्वस्तिक को प्राक् वैदिक और प्राक् हड़प्पाई कहा जा सकता है। ऐसा लगता है कि यह एलम से चलकर बलूचिस्तान, सिंधु घाटी और तुर्कमेनिस्तान में पहुंचा। संभवतः यह तुर्कमेनिस्तान से ताजिकिस्तान गया। मौर्य और मौर्योत्तर कला में इसका कैसे प्रयोग हुआ, इस विषय की छानबीन की जानी चाहिए।

भाषा और अभिलेख

हिंद-यूरोपीय भाषा आर्य संस्कृति की प्रमुखतम विशेषता मानी जाती है। भाषाशास्त्रियों ने आद्य हिंद-यूरोपीय भाषा का रूप तैयार किया है। उनके अनुसार इसका प्रारंभ सातवीं अथवा छठी सहस्राब्दि ई.पू. में हुआ। हिंद-यूरोपीय भाषा पूरबी एवं पश्चिमी शाखाओं में बांटी जाती है, और लगभग 4500 ई.पू. से पूरबी शाखा के उच्चारण संबंधी विकास में कई चरण बतलाये जाते हैं। इस शाखा की भाषा को आद्य हिंद-ईरानी भाषा कहा जाता है।[2] किन्तु अभिलेखीय साक्ष्य की दृष्टि से आद्य हिंद-ईरानी भाषा, जिसमें हिंद-आर्य भाषा भी सम्मिलित है, 2300 ई.पू. के पहले नहीं मिलती है। इस भाषा के प्राचीनतम उदाहरण इराक के अगेड वंश के पाटिया पर लिखे मिलते हैं। उसमें अरिसेन और सोमसेन नामक दो नाम मिलते हैं और हंगरी के भाषाशास्त्री ज़े. हरमट्टा ने इनका समय 2300-2100 ई.पू. के लगभग रखा है।[3] अनातोलिया के हत्ती अभिलेख बतलाते हैं कि वहां हिंद-यूरोपीय भाषा की पश्चिमी शाखा के बोलनेवाले 19वीं से 17वीं शताब्दी ई.पू. के बीच मौजूद थे। पूरबी शाखा के बोलनेवाले की उपस्थिति मेसोपोटामिया में 16वीं से 14वीं शताब्दी ई.पू. तक कस्सियों और मितानियों के अभिलेख से सिद्ध होती है। पर भारतवर्ष में इस प्रकार के अभिलेख नहीं मिलते हैं। अतएव अभिलेखों के अभाव में यह कहना कि हिंद-आर्य भाषा बोलनेवाले लोग भारत से मेसोपोटामिया गये अनर्गल लगता है। हरमट्टा का यह विचार है कि आद्य हिंद-ईरानी भाषा में कॉकसस क्षेत्र की भाषाओं से शब्द उधार लिये गये हैं, और साथ-ही-साथ फीनिश उग्राइक भाषाओं के शब्द भी लिये गये हैं। इससे पता चलता है कि हिंद-ईरानी भाषा का विकास पश्चिम में फीनलैण्ड और पूरब में कॉकसस क्षेत्र के बीच कहीं पर हुआ।

---

1. साँकलिया, उद्धृत पुस्तक, पृ॰ 403.
2. दानी एंड मैसन, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में जे॰ हरमट्टा, "दि इमअरजेन्स ऑव दि इंडो-ईरानियंस: दि इंडो-ईरानियन लैंग्वेजेज," पृ॰ 362-66.
3. दानी एंड मैसन, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में जे॰ हरमट्टा का लेख, पृ॰ 374.

प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् गॉर्डन चाइल्ड ने पहले यह विचार रखा था कि अनातोलिया हिंद-यूरोपीयों का उद्गम स्थान है। कुछ रूसी भाषाशास्त्री भी इसी प्रकार का मत प्रगट करते हैं।[1] उनके अनुसार हिंद-यूरोपीय भाषा का मूल स्थान कॉकसस के दक्षिण वाले क्षेत्र में हो सकता है। इस क्षेत्र में पूरबी अनातोलिया और उत्तरी मेसोपोटामिया पड़ते हैं। यद्यपि अनातोलिया घोड़े वाले काला सागर क्षेत्र के निकट है तो भी यहां छठी-पांचवीं सहस्राब्दि ई॰पू॰ में न तो घोड़े मिलते हैं और न हिंद-यूरोपीय संस्कृति के कोई अन्य तत्त्व। रूसी भाषाशास्त्रियों के निष्कर्ष से ब्रिटिश पुरातत्त्वविद् रेनफ्रु की इस परिकल्पना को बल मिलता है कि पूरबी अनातोलिया आर्यों का मूल स्थान था। उनके अनुसार वहां पहले-पहल खेती का प्रारंभ सातवीं सहस्राब्दि ई.पू. में हुआ और इसके फैलने से हिंद-यूरोपीय भाषा विभिन्न दिशाओं में फैली।[2] किन्तु हम जानते हैं कि प्रारंभिक नेतुफियन अर्थात् फिलस्तीन के इलाके में 10,000 ई॰पू॰ के आस-पास अनाज पैदा किये जाने लगे और 7000 ई.पू. के लगभग फिलस्तीन में जमकर खेती होने लगी।[3] सातवीं और छठी सहस्राब्दि ई॰पू॰ में खेती इराक, ईरान और पाकिस्तानी बलूचिस्तान में भी मिलती है। अतएव कृषि के उदय को पूरबी अनातोलिया तक सीमित नहीं किया जा सकता है। यह भी याद रहे कि हिंद-यूरोपीय भाषा के सबसे पुराने बोलनेवालों के जीवन में खेती का कोई बड़ा स्थान नहीं था। भाषाशास्त्री हरमट्टा का विचार है कि छठी सहस्राब्दि ई॰पू॰ के प्रारंभ में हिंद-यूरोपीय भाषाओं के पूरबी और पश्चिमी परिवारों में कोई इस प्रकार के कृषि संबंधी शब्द नहीं मिलते हैं।[4] संकेत मिलता है कि जहां-जहां हिंद-यूरोपीय गये वहां की खेती की पद्धति उन्होंने अपनायी। फिर यह भी सोचने की बात है कि अपने उद्गम स्थान से आर्य भाषा क्यों लुप्त हो गई। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि रेनफ्रू विकल्प के रूप में मध्य एशिया को भी आर्यों का उद्गम स्थान बतलाते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि प्रसारवादी पुरातत्त्वविद् नहीं होने पर भी वे आर्य समस्या की व्याख्या प्रसारवादी सिद्धान्त के आधार पर करते हैं।

---

1. जे॰ आई॰ इ॰ एस॰, 13, संख्या 3-4, 1985 में टी॰ गैमक्रेलिज एंड वी॰ वी॰ इवानॉव, "दि माइग्रेशन्स ऑव ट्राइब्स स्पीकिंग इंडो-यूरोपियन डाएलेक्ट्स फ्रॉम देअर ऑरिजिनल होम इन दि निअर ईस्ट टू देअर हिस्टॉरिकल हैबिटेशन्स इन यूरेशिया", पृ॰ 49; गैमक्रेलिज एंड इवानॉव, इंडो-यूरोपियन एंड दि इंडो-यूरोपियंस, जिल्द-1, दि टेक्स्ट, माउटन डे ग्रुयटर, न्यू यॉर्क, 1995.
2. सी॰ रेनफ्रू, आर्किअलॉजि एंड लैंग्वेज: दि पज़्ल ऑव इंडो-यूरोपियन ऑरिजिनस, पेनगुइन, हरमण्डसवर्थ, 1989.
3. करेंट एन्थपॉलजि, जिल्द 30, संख्या-1 में हेमिलटन का लेख, पृ॰ 102.
4. दानी एंड मैसन, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में जे॰ हरमट्टा का लेख, पृ॰ 359.

आर्य संस्कृति की विशेषताओं के उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि किसी भी विशेषता के विषय में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि वह 2000 ई०पू० के पहले भारत की किसी संस्कृति में उपस्थित थी। यह बात अश्व पालन, आरे वाले चक्के का प्रयोग, युद्ध रथ के प्रचलन, दाह कर्म की प्रथा और सोम पान पर भी लागू होती है। अग्नि पूजा और अश्वमेध यज्ञ के विषय में भी यही स्थिति है। और सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि आर्य भाषा के प्रचलन का पूरा अभाव है। आर्य संस्कृति की सारी विशेषताएं एक-एक करके भारतीय उपमहादेश से बाहर मिलती हैं। अतएव उन्हें 2000 ई.पू. से पहले हड़प्पा या भारत की किसी अन्य समकालीन संस्कृति में खोजने का प्रयास निरर्थक है।

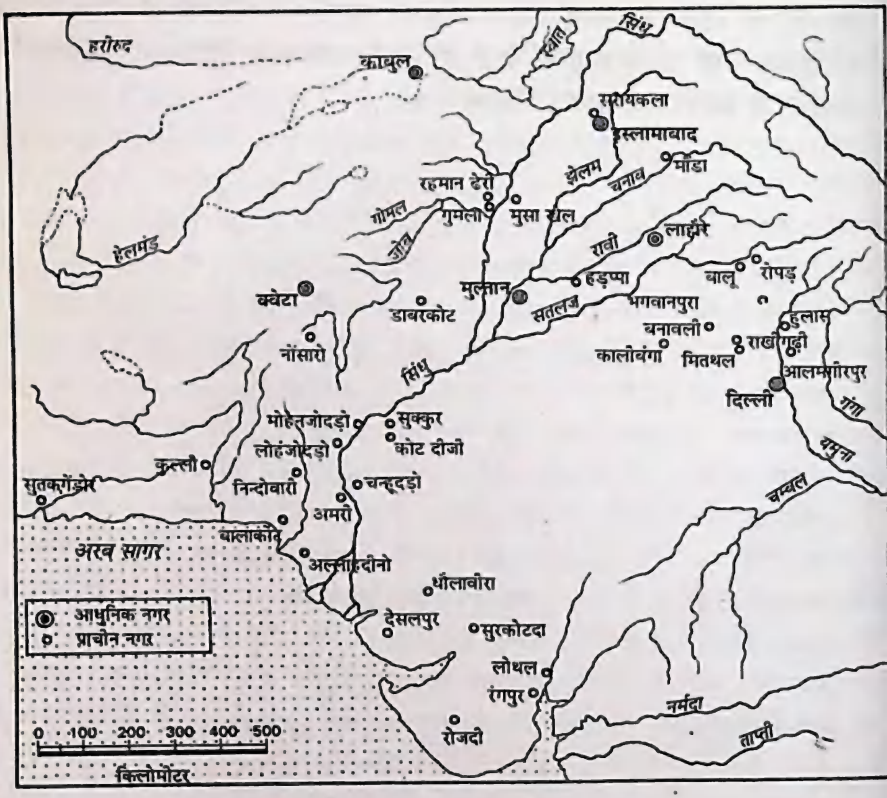
हरीरुद
काबुल
स्वात
सिंधु
रावलपिंडी
इस्लामाबाद
झेलम
चनाब
मांडा
रहमान ढेरी
गोमल
गुमला
मुसा खेल
जोब
हेलमंड
रावी
लाहौर
क्वेटा
डाबरकोट
मुलतान
हड़प्पा
बालू
रोपड़
सतलुज
भगवानपुरा
बनावली
हुलास
नौसारो
कालीबंगा
मितथल
राखीगढ़ी
सिंधु
आलमगीरपुर
दिल्ली
गंगा
मोहेनजोदड़ो
सुक्कुर
लोहंजोदड़ो
कोट दीजी
कुल्ली
सुतकगेंडोर
चन्हूदड़ो
निन्दोवारी
अमरी
यमुना
चम्बल
बालाकोट
अरब सागर
अलमाहदीनो
धौलावीरा
आधुनिक नगर
प्राचीन नगर
देसलपुर
सुरकोटदा
लोथल
रंगपुर
नर्मदा
रोजदी
ताप्ती
0 100 200 300 400 500
किलोमीटर

2. सैंधव सभ्यता की पहचान

हड़प्पा सभ्यता के विकास में सिंधु एवं सरस्वती की सापेक्षिक देन

कुछ पुरातत्त्वविद् कहते हैं कि हड़प्पा सभ्यता के विकास में सरस्वती घाटी का उतना ही योगदान है जितना सिंधु घाटी का। उनका कहना है कि भारत में सरस्वती नदी पर 700 से अधिक हड़प्पाई स्थल मिलते हैं, और पाकिस्तान में सिंधु और इसकी सहायक नदियों पर केवल 100 ऐसे स्थल मिलते हैं। अतएव हड़प्पा सभ्यता को "सिंधु-सरस्वती सभ्यता" कहना उचित है।[1]

किंतु वे भूल जाते हैं कि हकरा-घग्घर अथवा सरस्वती नदी का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। यह सिंधु की सहायक नदी है। हड़प्पा सभ्यता के संदर्भ में भारत और पाकिस्तान की सापेक्षिक देन का पता लगाने के लिये प्रत्येक हड़प्पाई स्थल के महत्त्व को ध्यान में रखना अति आवश्यक है। ऐसे तो स्थल की गिनती बरतन के एक ठीकरे के मिलने से भी की जाती है। इसी प्रकार 1981 तक की गयी गिनती के आधार पर यह बतलाया गया है कि धूसर चित्रित भांड संस्कृति के लगभग 750 स्थल हैं, और मध्य गंगा क्षेत्र में उत्तरी काले पालिशदार मृद्भांड संस्कृति के 450। किंतु सांस्कृतिक दृष्टि से सभी स्थल एक प्रकार के नहीं हैं। उल्लेखनीय है कि कोई भी प्रमुख हड़प्पाई स्थल जैसे हड़प्पा, मोहेनजोदड़ो और धोलावीरा हकरा या घग्घर नदी के किनारे नहीं है, और इन्हीं दोनों नदियों की पहचान पुरानी सरस्वती नदी से की जाती है, पाकिस्तान के बहावलपुर जिले हकरा की पहचान सरस्वती से की जाती है। जबकि भारत के पंजाब और हरियाणा क्षेत्र में घग्घर की पहचान सरस्वती से की जाती है। पर इन इलाकों में हड़प्पा या मोहनजोदड़ो जैसा कोई केंद्र नहीं है। कालीबंगा को सरस्वती वाला स्थल माना जा सकता है। किंतु पुरावशेष की दृष्टि से हड़प्पा, मोहेनजोदड़ो और धोलावीरा के सामने कालीबंगा का महत्त्व बहुत कम है। अब रही घग्घर के इलाके में हड़प्पाई स्थलों को गिनने की बात। ध्यान रहे कि

---

1. एस॰ पी॰ गुप्त, सं॰, दि लॉस्ट सरस्वती एंड दि इंडस सिविलाइज़ेशन, कुसुमांजलि प्रकाशन, जोधपुर, 1955 में एस॰ पी॰ गुप्त, "दि इंडस-सरस्वती सिविलाइज़ेशन: सम न्यू डिवेलपमेंट्स", पृ॰ 180-200.

अम्बाला और सिरसा जिले में, जहां घग्घर का महत्त्वपूर्ण स्थान है, हड़प्पाई वास स्थान के चिह्न नहीं मिलते हैं। यह खोज आर० सी० ठाकरान ने की है जिन्होंने हरियाणा में हड़प्पाई स्थलों का सर्वेक्षण किया है। उनके अनुसार घग्घर के सूखे तल में 55 प्रारंभिक हड़पाई स्थल हैं, 117 परिपक्व हड़प्पाई स्थल हैं और 581 परवर्ती हड़प्पाई स्थल हैं। इनकी संख्या 700 से अधिक जरूर होती है किंतु इसमें अधिकांश ऐसे स्थल हैं जो शहरी सभ्यता के अंत होने के बाद स्थापित हुए। उस प्रकार का सर्वेक्षण पाकिस्तान के बहावलपुर यानि चोलिस्तान क्षेत्र में एम० आर० मुगल नामक पुरातत्त्वविद् ने किया है। इससे पता चलता है कि हकरा नदी के इलाके में 40 प्रारंभिक हड़प्पाई, 164 परिपक्व हड़प्पाई और 50 परवर्ती अथवा नगरोत्तर हड़प्पाई स्थल हैं।[1] इन दोनों सर्वेक्षणों की तुलना से पता चलता है कि पाकिस्तानी सरस्वती के क्षेत्र में परिपक्व नगरीय हड़प्पाई स्थल की बहुतायत है और भारतीय सरस्वती क्षेत्र में नगरोत्तर हड़प्पाई स्थलों की। घग्घर नदी के क्षेत्र में नगरोत्तर हड़प्पाई स्थलों की बहुतायत से पता चलता है कि अधिकांश लोग दक्षिण-पश्चिम के पतनशील नगरों को छोड़कर उत्तर-पूरब की ओर आये। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हड़प्पाई सभ्यता के नगरोत्तर काल में पाकिस्तान के हकरा क्षेत्र में उनकी बस्तियों की संख्या बड़े जोर से घटी।[2] पर उत्तरी राजस्थान और हरियाणा के पास वाले क्षेत्र में परवर्ती हड़प्पाई स्थल नहीं पाये जाते हैं।[3]

हकरा या घग्घर की घाटी में ही केवल प्रारंभिक हड़प्पाई संस्कृति के तत्त्व नहीं मिलते हैं। ये कोट दीजी में प्रमुख रूप से पाए जाते हैं। कोट दीजी पाकिस्तान में मोहेनजोदड़ो के ठीक सामने सिंधु नदी पर अवस्थित है। कोट दीजी चरण के 7 स्थल, जो मध्य सिंधु घाटी क्षेत्र में स्थित हैं, बड़े महत्व के हैं। बी० के० थापर और जिम शैफर जैसे पुरातत्त्वविदों का कहना है कि "हड़प्पाई चरण अथवा सिंधु घाटी

---

1. आर० सी० ठाकरान से मिली जानकारी के आधार पर; जी० पोसेल, सं०, हड़प्प सिविलाइज़ेशनः ए कनटेमपररि पर्सपैक्टिव, ऑक्सफोर्ड एंड आई० बी० एच० पब्लिशिं हाउस, नयी दिल्ली, 1982 में एम० आर० मुगल, "रीसेन्ट आर्किअलॉजिकल रिसर्च इन चोलिस्तान डेज़र्ट", पृ० 97-106.
2. ब्रिजेट एंड रेमंड ऑलचिन, ऑरिजिन्स ऑव ए सिविलाइज़ेशन, दि प्रीहिस्ट्री एं अर्ली आर्किअलॉजि ऑव साउथ एशिया, वाईकिंग, पेनगुइन बुक्स इंडिया (प्रा० लिमिटेड, 1997, पृ० 213.
3. डी० पी० अग्रवाल एंड ए० घोष, सं०, रेडियोकार्बन एंड इंडियन आर्किअलॉजि, दि टा इनस्टिटयूट ऑव फन्डमेन्टल रिसर्च, बम्बई, 1973 में सूरज भान, "दि सिक्वेन्स एं स्प्रेड ऑव प्रीहिस्ट्रॉरिक कल्चर्स इन दि अपर सरस्वती बेसिन", पृ० 261-62.

सभ्यता के विकास में कोट दीजी चरण स्पष्ट रूप से सर्वाधिक महत्व का था।[1] हड़प्पा सभ्यता के उदय और विकास में बलूचिस्तान के कई स्थलों का योगदान दिखायी पड़ता है क्योंकि इन स्थलों में हड़प्पाई संस्कृति के कुछ तत्त्व मिलते हैं। अतएव ये सोचना कि हकरा और घग्घर घाटी की संस्कृतियाँ उतने ही महत्व की थीं जितनी सिंधु घाटी की संस्कृति, गलत होगा। हड़प्पा संस्कृति को सैंधव सभ्यता ही कहना उचित होगा। इस संस्कृति के उदय एवं विकास में सिंधु घाटी के क्षेत्र का सबसे बड़ा हाथ था, पर हकरा-घग्घर के इलाकों और बलूचिस्तान के स्थलों का भी योगदान था। भविष्य में हकरा-घग्घर के इलाके में ऐसे हड़प्पाई स्थल मिलते हैं जो मोहेनजोदड़ो, हड़प्पा आदि को मात करते हैं तो इससे ज्ञानवर्द्धन अवश्य होगा पर नामकरण में कोई अन्तर नहीं आएगा। यह नहीं भूलना चाहिए कि हकरा-घग्घर, जिसे सरस्वती कहते हैं, सिंधु की सहायक नदी है, और इसलिए उसके क्षेत्र को सिंधु घाटी से बिलकुल अलग नहीं किया जा सकता है।

हिन्दूत्ववादी पुरातत्त्वविद् सरस्वती को अधिक महत्त्व इसलिए देते हैं क्योंकि ऋग्वेद में इसका कई स्थानों पर वर्णन है, और सरस्वती की प्रार्थना के लिये सूक्तों की रचना की गई है। सरस्वती को नदीतम कहा गया है अर्थात् इसे नदियों में श्रेष्ठ माना गया है। ऐसा लगता है कि यह एक विशाल नदी थी जिसमें बराबर पानी रहता था। आज-कल की हकरा और घग्घर नदी के समान यह नाले जैसी नदी नहीं थी। ऋग्वेद के दूसरे मण्डल में सरस्वती का अच्छा वर्णन है, और वैदिक विद्वानों का मत है कि इस मण्डल का भौगोलिक क्षेत्र सिंधु से पश्चिम और अफगानिस्तान में पड़ता था। छठे मण्डल में भी सरस्वती नदी की काफी चर्चा है, और उसका रचना क्षेत्र सिंधु नदी से पश्चिम में रखा जाता है।[2] अतएव प्राचीनतम सरस्वती की पहचान अवेस्ता में वर्णित हरख्वती नदी से की जाती है क्योंकि प्राचीन ईरानी भाषा का "ह" संस्कृत का "स" है। हरख्वती आज-कल अफगानिस्तान की हेलमंड नदी है। ऐसा लगता है कि जैसे-जैसे आर्य जन आगे बढ़ते गये इस नदी का नाम अपने साथ ढोते गये। ऋग्वेद में सिंधु नदी को भी सरस्वती कहा गया है। फिर जब वैदिक जन पंजाब, हरियाणा और राजस्थान आए तो वहाँ आज-कल के हकरा और घग्घर नदियों को प्राचीन काल में सरस्वती का नाम दिया। सरस्वती नदी का नाम गढ़वाल,

---

1. दानी एंड मैसेन, सं॰, हिस्ट्री ऑव सिविलाइज़ेशन इन सेंट्रल एशिया, पेरिस, 1992 में जिम शैफर एंड बी॰ के॰ थापर, "प्री-इंडस एंड अर्ली इंडस कल्चर्स ऑव पाकिस्तान एंड इंडिया," पृ॰ 272-73.
2. जार्ज इरडोसी, सं॰, दि इंडो-आर्यन्स् ऑव एन्शॅन्ट साउथ एशिया, नयी दिल्ली, 1977 मे माइकेल वितसेल, "ऋग्वैदिक हिस्ट्री: पोइट्स, चीफटेन्स एंड पॉलइटिज", अपेनडिक्स ए एंड अपेनडिक्स बी।

प्रयाग और राजगिर में भी मिलता है। यह नाम गुजरात में भी मिलता है, और पश्चिम बंगाल में भी मिलता है। उसी प्रकार ऋग्वेद में वर्णित सरयू नदी अफगानिस्तान की हरिरुद नदी है जिसका नाम अवेस्ता में पाया जाता है। फिर जब वैदिक जन उत्तर प्रदेश में कोसल तक पहुँच गए तो सरयू नाम वहाँ प्रचलित हो गया। सरयू शब्द ऋग्वेद के चौथे, पांचवे और दसवे मंडलों में मिलता है, और इसके किनारे दो आर्य सरदार रहते थे।[1] उसी प्रकार जो वैदिक जन बलूचिस्तान में गोमती अर्थात् गोमल नदी के किनारे रहते थे उनके पूरब में आ जाने से लखनऊ के पास नदी का नाम गोमल पड़ गया। रामायण से पता चलता है कि राजगृह अर्थात् गिरिव्रज पश्चिम पंजाब में केकयों के देश में सर्वश्रेष्ठ नगर था।[2] ऐसा लगता है कि जब यहां के लोग पूरब गये तो यह नाम मगध में प्रचलित हुआ।

क्या हड़प्पाई संस्कृति ऋग्वैदिक थी?

कुछ पुरातत्त्वविद् सोचते हैं कि ऋग्वैदिक जनों ने हड़प्पाई संस्कृति को जन्म दिया। 1978 में बी॰ बी॰ लाल ने विश्वासोत्पादक ढंग से इस विचार का खण्डन किया।[3] उन्होंने बतलाया कि हड़प्पाई और ऋग्वैदिक संस्कृतियों के समय, भूगोल और अन्तर्विषय अलग-अलग हैं। किन्तु 1997 में उन्होंने उसी विचार को मान लिया है जिसका उन्होंने खंडन किया था। हड़प्पा संस्कृति और वैदिक ग्रंथों के बीच अब वे समय का अंतर नहीं मानते हैं, हड़प्पाई संस्कृति में घोड़े होने की बात करते हैं और इस मत का खण्डन करते हैं कि हड़प्पाई संस्कृति वैदिक ग्रंथों में वर्णित संस्कृति से बिल्कुल भिन्न है।[4]

वेदविदों का सामान्यत: विचार है कि वैदिक साहित्य की रचना 1500 ई॰ पू॰ से लेकर 500 ई॰ पू॰ के बीच में हुई। अतएव ऋग्वेद को हड़प्पा के नगरोत्तर चरण में रखा जा सकता है और परिपक्व हड़प्पाई संस्कृति से इसे नहीं जोड़ा जा सकता है। हिन्दूत्ववादियों की दलील है कि उत्तर वैदिक काल में लिखित ऐतरेय ब्राह्मण में वासंती विषुवान् मृगशिरस् से हटकर रोहिणी पर चला आता है और इस घटना का समय 3500 ई॰ पू॰ रखा जाता है। ब्रजबासी लाल इस दलील को स्वीकार करके ऋग्वेद का समय चौथी सहस्राब्दि ई॰ पू॰ में खींच कर ले जाते हैं।[5]

---

1. IV. 30.18.
2. एच॰ सी॰ रायचौधुरी, पलिटइकल हिस्ट्री ऑव एन्शॅट इंडिया, सातवां संस्करण, युनिवर्सिटी ऑव कलकत्ता, 1972, पृ॰ 57.
3. जर्नल ऑव सेंट्रल एशिया, जिल्द 1, संख्या 1, 1978 में बी॰ बी॰ लाल, "दि इंडो-आर्यन हाइपॉथइसिस वीज् आ-वी इंडियन आर्किअलॉजि", पृ॰ 21-41.
4. बी॰ बी॰ लाल, दि अर्लीयेस्ट सिविलाइज़ेशन ऑव साउथ एशिया, बुक्स इनट्रनैशनल, नयी दिल्ली, 1997, पृ॰ 281-87.
5. लाल, 1997, उद्धृत पुस्तक, पृ॰ 286.

किंतु आधुनिक खगोलशास्त्री, जिन्होंने मूल ग्रंथों का अध्ययन किया है, यह बतलाते हैं कि ब्राह्मणों में वसंत विषुव की स्पष्ट चर्चा नहीं है।[1] यह उल्लेखनीय है कि नक्षत्र स्थिर रहते हैं किंतु विषुव विंदु गतिशील है। विषुव बिन्दु पर दिन और रात बराबर होते हैं, किंतु इस बिन्दु की गति की चर्चा न तो वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों में है और न ही वेदांग ज्योतिष में है।[2] अतएव ऋग्वेद को चौथी सहस्त्राब्दि ई॰ पू॰ में नहीं रखा जा सकता है। इसके भूगोल और ज़ेंद अवेस्ता से इसकी समानता होने के कारण ऋग्वेद का तिथि निर्धारण अलग-थलग नहीं हो सकता है। 14वीं सदी ई॰ पू॰ के मितानी अभिलेख में कुछ प्रमुख वैदिक देवताओं के नाम ठीक-ठीक दिये गये हैं जिससे ऋग्वेद को 1500 ई॰ पू॰ के पहले नहीं रखा जा सकता है। फिर ऋग्वेद का जो भौगोलिक क्षेत्र पड़ता है उसमें 1500 ई॰ पू॰ के आस-पास घोड़े के अवशेष ठीक से मिलते हैं। चूंकि ऋग्वैदिक जीवन अश्वकेन्द्रित था इसलिए ग्रंथ के तिथि निर्धारण में हम इस बात को भी ध्यान में रख सकते हैं।

हड़प्पाई संस्कृति ऋग्वैदिक है, इसे सिद्ध करने के लिए लाल यह दलील देते हैं कि जैसे हड़प्पाई सभ्यता में नगर, कस्बे और गांव को (जैसे आज भी प्रत्येक समाज में होता है) वैसे ही वैदिक काल में शहरी और देहाती बस्तियां थीं। किंतु जिन भाषाशास्त्रियों और पुरातत्त्वविद्‌ों ने इस विषय पर शोध किया है वे वैदिक ग्रंथों में नगर मिलने की बात को नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि भाषा की दृष्टि से हिंद-ईरानियों के बीच नगर, किले, महल, मंदिर, लेखन कला, सिंचाई की व्यवस्था और व्यापार या शिल्पों के विशेषीकरण के प्रमाण नहीं मिलते है।[3] विद्वानों का यह निष्कर्ष आद्य भारतीयों और आद्य ईरानियों दोनों पर लागू होता है। किंतु लाल ऋग्वेद के 10.101.8 वाले मंत्र को उद्‌धृत करते हैं जिसमें देवताओं से प्रार्थना की गयी है कि वे लोगों को ऐसे आयसी किले प्रदान करे जो सभी आक्रमणकारियों से सुरक्षित हो।[4]

---

1. डी॰ एस॰ बोस, एस॰ एन॰ सेन एंड बी॰ बी॰ सुब्बरयप्पा, ए कनसाइज हिस्ट्री ऑव साइअन्स इन इंडिया, नेशनल साइअन्स अकैडमि, नयी दिल्ली, 1971, पृ॰ 77.
2. मेघनाद साहा एंड एन॰ सी॰ लाहिड़ी, हिस्ट्री ऑव दि कैलेन्डर्स, काउनसिल ऑव साइअनटिफिक एंड इन्डसटिअर्ल रिसर्च, नयी दिल्ली, 1955, पुनर्मुद्रित, 1992, अपेनडिक्स 5 डी; तुलना करें शंकर बालकृष्ण दीक्षित, भारतीय ज्योतिष, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, 1963.
3. जर्नल ऑव सेंट्रल एशिया, जिल्द 1, संख्या 1, 1978 में वाई॰ वाई॰ कुजमिना एंड कं॰ एफ॰ स्मीरनोव, "दि ऑरिजिन ऑव दि इंडो-ईरानियन्स इन दि लाइट ऑव रिसेन्ट आर्किअलॉजिकल डाटा", पृ॰ 68.
4. लाल, 1997, उद्‌धृत पुस्तक, पृ॰ 284-85.

यहाँ लाल आयसीपुर् का अर्थ किलेबंद नगर बतलाते हैं।[1] इसमें संदेह नहीं कि वैदिक जनों के अपने पुर् होते थे क्योंकि यह आख्यान है कि असुरों से कारगर ढंग से युद्ध करने के लिए देवों ने अपने किले बनाये और अपने बीच राजा का पद भी कायम किया। किंतु जिन लोगों ने वैदिक ग्रंथों में पुर् संबंधी उल्लेखों का ठीक से अध्ययन किया है, विशेषत: ऋग्वेद के उल्लेखों का, उनका मत है कि पुर् किलाबन्द नगर नहीं था। वेदविद् विल्हेल्म राऊ और पुरातत्त्वविद् जॉर्ज इरडोसी दोनों ने पुर् के सारे संदर्भों का गहरा अध्ययन किया है, और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वैदिक बस्तियां हड़प्पाई नहीं कही जा सकती हैं।[2]

ईंट के घर और दीवार, लंबकोणीय ढाँचों पर बनी ईंट से बिछी गलियां, अन्नागार और सार्वजनिक स्नानागार सैंधव नगर की विशेषताएँ हैं पर राऊ के अनुसार इनके विषय में प्राचीन वैदिक साहित्य में एक भी शब्द नहीं कहा गया है। उनके विचार में वैदिक काल के बिल्कुल अंत में नगरों की चर्चा मिलती है।[3] पुर् संबंधी संदर्भों के आधार पर इरडोसी पुर् के अस्तित्व पर ही संदेह प्रगट करते हैं और जो लोग बार-बार हड़प्पाई सभ्यता के ऋग्वैदिक होने का हठ करते हैं उन्हें वे सनकी बतलाते हैं।[4] पुर् संबंधी मिथकों और रूपकों के आधार पर हमारे विचार में ऐसा लगता है कि हड़प्पाई सभ्यता के नगरोत्तर चरण में पुर् या तो रहने के लिए घरों की इकाई था अथवा इन इकाईयों का समूह था। विशेषत: प्रारंभिक वैदिक काल में पत्थर के जो पुर् होते थे उनकी तुलना हाल में पाये गये पहाड़ी गुफाओं से की जा सकती है। विद्वानों का विचार है कि पशुचारी लोग उत्तर पश्चिम सीमा के पहाड़ी इलाकों में रहते थे।

लाल को ऋग्वेद में सामुद्रिक व्यापार का प्रचुर साक्ष्य दिखाई पड़ता है, और वे इससे प्राप्त अपार धन की चर्चा करते हैं। अपने विचार की पुष्टि के लिये वे ऋग्वेद के नवें मंडल से एक मंत्र उद्धृत करते हैं और ग्रीफिथ द्वारा किये गये इसके अँग्रेजी

---

1. लाल, 1997, उद्धृत पुस्तक, पृ॰ 284-85.
2. विल्हेल्म राऊ, दि मीनइंग ऑव पुर् इन वैदिक लिटअरेचअर, विल्हेल्म फिंक वरलग, मुंचेन, 1976; जानशन-मार्क केनोयर, सं॰, फ्रॉम सुमर टू मेलुहा कॉन्ट्रिब्यूशनस टू दि आर्किअलॉजि ऑव साउथ एंड ईस्ट एशिया इन मेमरि ऑव जार्ज एफ॰ डेल्स जूनियर, विसकॉनसिन आर्किअलॉजिकल रिपोर्ट, जिल्द 3, 1994 में जॉर्ज इरडोसी, "दि मीनइंग ऑव ऋग्वैदिक पुर: नोट्स ऑन दि वैदिक लैन्डस्केप", पृ॰ 223-34.
3. राऊ, 1976, उद्धृत पुस्तक, पृ॰ 52.
4. केनोयर, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में इरडोसी का लेख, पृ॰ 224, 232.

अनुवाद का सहारा लेते हैं।[1] मंत्र में कहा गया है: रायः समुद्रांसचतुरो अस्मभ्यम् सोम विश्वतः, आ पवस्व सहस्त्रिणः।[2] ग्रीफिथ इसका अनुवाद करते हैं कि "हे सोम, हमारे लाभ के लिये चारों समुद्रों के हजार गुनेवाले धन को बरसाओ।" इसमें यह विचारणीय है कि नवाँ मंडल, जिसमें यह मंत्र पाया जाता है, पूर्णतः सोम के विषय में रचा गया था, और ऋग्वेद के मूल ग्रंथ में बाद को जोड़ा गया था। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अस्मभ्यम् का अनुवाद ग्रीफिथ ने "हमारे लाभ हेतु" किया है जिससे ऐसा भ्रम पैदा हो सकता है कि यह नफा व्यापार के कारण होता है। उल्लेखनीय है कि इस प्रकार की भ्रांति प्रसिद्ध जर्मन वैदिक विद्वान गेलनर के अनुवाद से नहीं होती है।[3] यह भी ध्यान रहे कि ग्रीफिथ चारों समुद्रों को काल्पनिक बतलाते हैं[4] पर लाल इसकी अनदेखी करते हैं।

इस संदर्भ में सायण की टीका अर्थपूर्ण मालूम पड़ती है। इस टीका के अनुसार यजमान सोम देवता से प्रार्थना करता है कि चारों समुद्र से घिरे हुए समस्त पृथ्वी उसके हाथ में आवे।[5] जो भी हो सामुद्रिक व्यापार से अपार धन मिलता था, इसकी चर्चा ऋग्वेद में कहीं नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रारंभिक वैदिक जनों का परिचय समुद्र से नहीं था। व्ही० आई० सरेयानीडि[6] और रमेन्द्रनाथ नंदी[7] बतलाते हैं कि लोग फारस की खाड़ी और मकरान किनारे के रास्ते से सिंधु घाटी में आये। ऋग्वेद में पाए गए समुद्र संबंधी अधिकांश उल्लेखों का नंदी ने अध्ययन किया है। प्रथम और दसवें मंडल में जो उल्लेख मिलते हैं उनके आधार पर वे मालों की फेरी का जिक्र करते हैं। मामूली स्थल व्यापार के संबंध में भी वे मालों की फेरी और मामूली खरीद-बिक्री की चर्चा करते हैं।[8] अतएव हमलोग ऋग्वेद के उल्लेखों से सामुद्रिक व्यापार के होने का निष्कर्ष नहीं निकाल सकते हैं।

ऋग्वैदिक जन मुख्यतः पशुचारी थे, यद्यपि वे खेती भी करते थे। ऋग्वेद का शब्दकोश समृद्ध है यद्यपि इसमें खरीद-बिक्री छोड़कर कोई ऐसा शब्द नहीं मिलता

---

1. लाल, 1997, उद्धृत पुस्तक, पृ० 285.
2. IX. 33.6.
3. हरवर्ड ऑरिएन्टल सिऑरीज, जिल्द 35, 1951, पृ० 30.
4. दि हिम्स ऑव दि ऋग्वेद, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, पुनर्मुद्रण, 1986, पृ० 483.
5. चतुःसमुद्रमुद्रितभूमण्डलस्वामित्वम् एव आशास्ते यजमानः, ऋ० वे०, 9.33.6 पर सायण का भाष्य।
6. जर्नल ऑव सेंट्रल एशिया, जिल्द I, संख्या 1, 1978, पृ० 77.
7. इंडियन हिस्टॉरिकल रिव्यू, जिल्द XX, संख्या 1 और 2, 1994-95, पृ० 9-36.
8. वही, पृ० 34-35.

है जिससे पता चले कि व्यापार सुनिश्चित रूप से चलता था।[1] ऋग्वेद के प्राचीन भाग में पट्टा लगाने, किराया रखने, कर्ज देने और कर्ज लेने के लिये शब्द नहीं है। यद्यपि इन भागों में ऋण शब्द का उल्लेख है पर इससे पारस्परिक आदान-प्रदान का अर्थ निकलता है। उत्पादन में लगे हुए दास, मजदूरी कमाने वाले लोग या भारे के मजदूरों का उल्लेख नहीं है।[2] यदि ऋग्वेद की संस्कृति शहरी होती तो ये सारे लक्षण उसमें पाये जाते। पकी ईंटें हड़प्पाइयों की विशेषता है। काँस्य युग की किसी अन्य सभ्यता में इतने बड़े पैमाने पर पकी ईंटें नहीं मिलती हैं। किंतु भवन निर्माण के लिए इस महत्त्व की सामग्री की चर्चा ऋग्वेद में नहीं मिलती है। दूसरी ओर घोड़ा प्रारंभिक ऋग्वैदिक जनों की सबसे बड़ी पहचान है, किंतु यह हड़प्पाई संस्कृति के प्रारंभिक अथवा परिपक्व चरण में नहीं पाया जाता है। लाल मोहेनजोदड़ो, लोथल, सुरकोटदा और कालीबंगा में घोड़े के अवशेष मिलने की बात करते हैं।[3] किंतु इन अवशेषों का क्या समय है और उनकी कितनी संख्या है यह विचारणीय है। राव भी ऐसे पुरातत्त्वविद् हैं जो हड़प्पाई संस्कृति को आर्य बतलाते हैं। किंतु लोथल और मोहेनजोदड़ो में पाए गए घोड़े के अवशेषों को बाद वाले स्तरों में रखते हैं।[4] उनका कहना है कि हड़प्पा, मोहेनजोदड़ो, लोथल और रोपड़ में घोड़ा हड़प्पाई संस्कृति के अंतिम चरण में मिलता है।[5] फिर भी यह ध्यान देने का विषय है कि हड़प्पाई संस्कृति के काफी बड़े भाग में उत्खनन हुए हैं। पर उस दृष्टि से घोड़े के अवशेष बहुत कम हैं इसलिए लाल "अधिक से अधिक उदाहरण पाना चाहते हैं।"[6] जो भी हो इतना तो स्पष्ट है कि हड़प्पाइयों का जीवन अश्व आश्रित नहीं था जैसाकि प्रारंभिक वैदिक जनों, विशेषतः उनके सरदारों, का था। इसे भी हमें नहीं भूलना चाहिए कि ऋग्वेद में युद्ध चर्चा बहुधा आती है।[7] इसमें युद्ध का महत्त्व इतना है कि सर्व दमन सिंह ने

---

1. शर्मा, मॅटेरियल कल्चर एंड सोशल फॉर्मेशन इन एन्शॅन्ट इंडिया, पृ॰ 30-31.
2. वही।
3. लाल, 1997, उद्धृत पुस्तक, पृ॰ 285.
4. एस॰ आर॰ राव, लोथल एंड इंडस सिविलाइज़ेशन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई 1973, पृ॰ 89.
5. एस॰ आर॰ राव, लोथलः ए हड़प्पन पॉर्ट टाउन, मअम्वार्स ऑव दि आर्किअलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, संख्या 78, नयी दिल्ली, 1979, पृ॰ 219.
6. लाल, 1997, उद्धृत पुस्तक, पृ॰ 286.
7. शर्मा, मॅटेरिएल कल्चर एंड सोशल फॉर्मेशन इन एन्शॅन्ट इंडिया, अध्याय 3.

वैदिक कालीन युद्ध कला पर शोध प्रबन्ध लिखा है।[1] सभा, समिति, गण, विदथ आदि विभिन्न प्रकार के जनसमुदायों का युद्ध से गहरा संबंध था।[2] किंतु ऋग्वेद के ठीक उल्टा हड़प्पाई सभ्यता में युद्ध का स्थान नहीं के बराबर है।[3] वैदिक धनुष और तरकस को हड़प्पाई अवशेषों में खोजना ठीक नहीं होगा, किंतु दूसरे अस्त्र-शस्त्र भी बहुत कम पाये जाते हैं। ठीक इसके विपरीत 1900 से 1700 ई॰ पू॰ के बीच की हिंद-आर्य पुरातात्त्विक सामाग्रियों का जो समूह दक्षिणी तुर्कमेनिस्तान और उत्तरी अफगानिस्तान में पाया जाता है उसमें हथियारों की बहुतायत है। इससे यह बोध होता है कि शासक वर्ग युद्ध में सदैव रत रहते थे।[4]

कुछ ऐसे औजार और हथियार हैं जो जहां-जहां भी ताम्र-पाषाणिक और काँस्य युगीन समाज पाये जाते हैं वहाँ-वहाँ मिलते हैं। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन समाजों के बीच गहरे पारस्परिक संबंध थे। ऋग्वैदिक समाज भी एक प्रकार से काँस्ययुगीन समाज है जैसा हड़प्पाई समाज है। पर हड़प्पाई समाज को ऋग्वैदिक तब-तक नहीं कहा जा सकता है जब-तक उसमें ऋग्वैदिक संस्कृति की विशेषताएँ नहीं मिले। पशुचारी समाज वाले स्थानान्तरण के पश्चात स्थायी निवासियों के शिल्प और दक्षता को अपना लेते हैं। यह बात वैदिक जनों में भी पाई जाती है। ऋग्वेद में हमें कृषि संबंधी ऐसे शब्द मिलते हैं जो अन्य प्राचीन हिंद-यूरोपीय भाषाओं में नहीं पाये जाते हैं।[5] यह स्पष्ट है कि भारत आने पर वैदिक जनों ने यहाँ की कृषि पद्धति को ठीक से सीखा। ऋग्वेद में कृषि संबंधी कई शब्द हैं जिनसे हल या उसके भाग का बोध होता है। ये शब्द हैं वृक, लांगल, सीर, सीता तथा फाल।[6] इनमें वृक को छोड़कर किसी भी पद का सजातीय शब्द अन्य हिंद-यूरोपीय भाषाओं में नहीं मिलता

---

1. सर्व दमन सिंह, एन्शॅन्ट इंडियन वारफेअर विद स्पेशल रेफरन्स टू दि वैदिक पिअरइअड, इ॰ जे॰ ब्रिल, लायेडेन, 1965.
2. शर्मा, एसपेक्ट्स ऑव पलिटइकल आइडिआज एंड इनस्टिटयूशनस इन एन्शॅन्ट इंडिया, चौथा संस्करण, दिल्ली, 1996, अध्याय 7-10.
3. बी॰ बी॰ लाल एंड एस॰ पी॰ गुप्त, सं॰, फ्रन्टिअर्स ऑव दि इंडस सिविलाइज़ेशन, बुक्स एंड बुक्स, नयी दिल्ली, 1984 में बी॰ बी॰ लाल का लेख, पृ॰ 55; तुलना करें के॰ एम॰ श्रीवास्तव, उसी पुस्तक में, पृ॰ 437.
4. जार्ज इरडोसी, सं॰ उद्धृत पुस्तक, में अएस्को परपोला, "दि प्रॉबल्म ऑव दि आर्यन्स् एड दि सोम: टेकस्टयूअल, लिंग्विसटिक एंड आर्किअलॉजिकल एविडेंस", पृ॰ 371-374.
5. शर्मा, मॅटेरिएल कल्चर एंड सोशल फॉर्मेशन इन एन्शॅन्ट इंडिया, पृ 25-26.
6. एकटा ओरियनटेलिया एकडेमिया साइअनटियारम हंग टामस, 42, (2-3), 1988 में वोटिल्ला "दि संस्कृत टरमिनॉलजि ऑव दि प्लाउ, पृ॰ 325-38.

है। इसमें संदेह नहीं कि आर्य आगमन के पहले भारतवासी कृषि में काफी निपुण थे। **शतपथ ब्राहमण** (1.6.1.4) में लिखा है कि जब असुरों एवं देवों में युद्ध हुआ तब कुछ असुर खेत जोत रहे थे और बीज बो रहे थे, और दूसरे फसल को काटने और उसकी दौनी करने में लगे हुए थे। इससे देवों को बड़ी चिंता हुई और उन्होंने ऐसे उपायों को खोजकर निकालने का प्रयास किया जिससे असुरों के कृषि कार्य को धक्का लगे और उनकी हार हो। परंतु अंततोगत्वा आर्यों ने भारत की खेती को ठीक से अपनाया जिसके कारण उनकी प्राचीनतम भाषा में कृषि संबंधी अनेक शब्द मिलते हैं। अंत में यह भी उल्लेखनीय है कि ऋग्वैदिक समाज पुरुष प्रधान था जबकि हड़प्पाई धर्म में मातृ पूजा की प्रधानता दिखाई पड़ती है। जिम शैफर का भी कहना है कि हड़प्पाई संस्कृति "आर्य" नहीं थी।[1]

यह दलील दी जाती है कि आर्य भारत से पश्चिमी एशिया को गए। किंतु पश्चिमी एशिया में 2300 ई॰ पू॰ के लगभग जब आर्य भाषा की उपस्थिति के अभिलेखीय साक्ष्य मिलते हैं उस समय भारत में आर्यों की उपस्थिति का कोई संकेत नहीं है। यदि यह कहा जाये कि आर्य हड़प्पा लिपि का प्रयोग करते थे तो फिर वे इस लिपि को पश्चिमी एशिया क्यों नहीं ले गये? जब भारत से बौद्ध धर्मावलम्बी मध्य एशिया गए तब अपने साथ वे ब्राह्मी लिपि लेते गये और कुषाण काल में बैक्ट्रिया अर्थात उत्तरी अफगानिस्तान में ब्राह्मी और खरोष्टी लिपि में प्राकृत भाषा के अभिलेख मिलते हैं। तुरफान और खोतान में हस्तलिखित बौद्ध पोथियां मिलती हैं। चूंकि आर्यों की कोई अपनी लिपि नहीं थी इसलिए उनकी भाषा के नमूने मेसोपोटामिया में प्रचलित क्यूनीफॉर्म लिपि और हत्ती की चित्र लिपियों में मिलती हैं। आद्य एलमी लिपि 2800 ई॰ पू॰ के आस-पास खत्म हो गई[2] और हड़प्पाई लिपि 2000 ई॰ पू॰ के आस-पास। अतएव काल के अन्तर के कारण आर्य इनमें से किसी लिपि का व्यवहार नहीं कर पाए। यद्यपि आद्य हिंद-आर्य और आद्य हिंद-ईरानी उत्तरी मध्य एशिया और दक्षिणी मध्य एशिया में भी 2500 ई॰ पू॰ से रहते थे किंतु इस क्षेत्र में लिपि के अभाव के कारण उनकी भाषा का हमें कोई नमूना नहीं मिलता है। परन्तु आर्य समस्या के अध्ययन में हम पश्चिमी एशिया के अभिलेखीय प्रमाणों

---

1. जॉन आर॰ लुकाज, सं॰, दि पीपॅल ऑव साउथ एशिया, प्लेनम प्रेस, न्यू यॉर्क एंड लंदन, 1984 में जिम शैफर, "दि इंडो-आर्यन् इनवेजॅन्सः कल्चरल मिथ एंड आर्किअलॉजिकल रियेल्इटि", अध्याय 4.
2. दानी एंड मैसन, सं, उद्धृत पुस्तक, में एम॰ टोसी, एस॰ मल्लिक शाहमिरज़ादी एंड एम॰ ए॰ जोयेंड, "दि ब्रॉन्ज एज इन ईरान एंड अफगानिस्तान, पृ॰ 199.

की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। प्राचीन विश्व में जो सांस्कृतिक प्रवृतियां चल रही थीं उनसे बिल्कुल अलग-थलग होकर हम ऋग्वेद का काल निर्धारण और अध्ययन नहीं कर सकते हैं। जो लोग इसकी उपेक्षा करके हड़प्पा संस्कृति पर वैदिक पहचान लादना चाहते हैं वे पुरातत्त्व का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों से करते हैं। इस प्रकार का प्रयास हमें स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी, रूस, चीन, जापान और कई अन्य देशों की याद दिलाता है जहां पुरातत्त्व का राजनीतिकरण हुआ।[1]

सैंधव सभ्यता और गांगेय संस्कृति

एक ओर तो सैंधव सभ्यता को वैदिक सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है और दूसरी ओर वैदिक संस्कृति और इसके पुरातात्त्विक अवशेषों की यह कहकर उपेक्षा की जा रही है कि गांगेय संस्कृति पर हड़प्पाई परम्परा का बड़ा प्रभाव था। कुछ भारतीय पुरातत्त्वविद् मध्य गंगा क्षेत्र में पाये गये ताम्र-पाषाणिक तथा परवर्ती संस्कृतियों में हड़प्पाई प्रभाव पर जोर देते हैं, यद्यपि इस मामले में विदेशी पुरातत्त्वविद् कुछ सावधानी बरतते हैं।[2] हड़प्पाई संस्कृति के छिटफुट तत्त्व गंगा के मैदानों में पहुंचे होंगे। किंतु उत्तरी गांगेय मैदान में पाये गये चित्रित धूसर भांड अथवा परवर्ती वैदिक संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं में हड़प्पाई प्रभाव नहीं दिखायी पड़ता है। उसी प्रकार मध्य गांगेय क्षेत्र में उत्तरी काले पालिशदार बरतन वाली अथवा प्रारंभिक पालि ग्रंथों में वर्णित संस्कृति की विशेषताओं में भी हड़प्पाई प्रभाव नहीं दिखायी पड़ता है। प्रथम सहस्त्राब्दि ई॰ पू॰ में उपमहादेश में जीविका साधन के जो उपाय थे उनमें समता हो सकती है। खेती, पशुपालन और दस्तकारी में एक प्रकार की समता देश के काफी भागों में मिल सकती है। परंतु हड़प्पाई संस्कृति की शहरी जीवन, पकी ईंट और लिपि जैसी जो विशिष्टतायें थीं वे चित्रित धूसर मृद्भांड वाले चरण में नहीं मिलती हैं। उत्तरी काले पालिशदार मृद्भांड वाले काल में लेखन कला का पुनर्जन्म हुआ। पर लिखने

---

1. न्यूजलेटर ऑव आर्किअलॉजि, एंथ्रपॉलजि, हिस्ट्री.... साउथ एशिया नेटवर्क इस्यू 5 सॅमअर 1997 में एल॰ कोहल एंड क्लारे फाउसेट्ट, सं॰, नैशनलिज्म, पॉलइटिकस एंड दि प्रैक्टिस ऑव आर्किअलॉजि, कैम्ब्रज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1995 शीर्षक पुस्तक की समीक्षा आर॰ एस॰ शर्मा द्वारा, पृ॰ 17-19 में; सोशल साइअन्टिस्ट, जिल्द 24, 1996 में रोमिला थापर," दि थीअॅरि ऑव आर्यन रेस एंड इंडिया," पृ॰ 17-18.
2. जॉर्ज इरडोसी, सं॰, दि इंडो-आर्यन्स् ऑव एन्शॅन्ट साउथ एशिया, नयी दिल्ली, 1997 में जॉनशन एम॰ केयोनर, "इंटरएक्शन सिस्टम्स, स्पेशलाइजड क्राफ्टस एंड कल्चर चेंज: दि इंडस वैली ट्रेडिशन एंड इंडो गंजेटिक ट्रेडिशन इन साउथ एशिया", पृ॰ 213-257.

का ढंग हड़प्पा से बिल्कुल भिन्न था। हड़प्पाई लिपि दायें से बायें की ओर लिखी जाती थी किंतु ब्राह्मी लिपि बायें से दायें लिखी जाती थी। लोहे का प्रचलन चित्रित धूसर मृद्भांड वाले काल में हुआ और सिक्के का उत्तरी काले पालिशदार मृद्भांड वाले काल में। किंतु दोनों में से किसी को भी सैंधव सभ्यता की विरासत नहीं माना जा सकता है।

बरतन बनाने की दृष्टि से चित्रित धूसर मृद्भांड हड़प्पाई बरतन से बिल्कुल भिन्न था। हड़प्पाई कुम्हार बरतन बनाने के लिये खुला आवा लगाते थे किंतु चित्रित धूसर मृद्भांड बनाने वाले कुम्हार बंद करके आवा लगाते थे। दोनों के बरतन भी अलग-अलग प्रकार के होते थे। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जिन पुरातत्त्वविदों ने मृद्भांड परंपरा का विशेष अध्ययन किया है वे चित्रित धूसर मृद्भांड का उद्गम ताम्रपाषाण युग के किसी मृद्भांड से नहीं बतलाते हैं। उसी प्रकार उत्तरी काले पालिशदार मृद्भांड का संबंध हड़प्पाई परंपरा से नहीं है। हड़प्पाई तौल के न्यूनतम बटखरे के विषय में कहा गया है कि इस प्रकार के बटखरे कौटिलीय अर्थशास्त्र में मिलते हैं। पर यह ठीक ही बतलाया गया है कि इन बटखरों का आधार गुंज अथवा बीज होता था और इस प्रकार के बीज देश के विभिन्न भागों में मिलते थे।[1] सर मार्टिमर व्हीलर के अनुसार हड़प्पाई फुट 13 इंच से लेकर 13.2 इंच तक का होता था, और हड़प्पाई हाथ 20.3 इंच से लेकर 20.8 इंच तक का होता था।[2] इस तरह के फुट अथवा हाथ उत्तरी काले पालिशदार मृद्भांड वाली संस्कृति में नहीं मिलती है। प्राक् औदयोगिक युग में प्रत्येक क्षेत्र के प्रचलित माप और तोल में क्षेत्रीय अंतर होता था। अभिलेखों से पता चलता है कि पूर्व मध्य काल में स्थानीय शासक के हाथ की लंबाई के अनुसार जमीन अलग-अलग राज्यों में नापी जाती थी।

कहा जाता है कि यदि आर्य बाहर से आये तो अपने साथ काँसा बनाने के लिये टिन क्यों नहीं लाए।[3] पर हमें ध्यान रखना चाहिए कि आर्यों के जीवन में कांसे की वैसी भूमिका नहीं थी जैसी हड़प्पाई जीवन में। खेती जानते हुए भी वे मूलत: पशुचारी थे। फिर टिन की, जो काँसा बनाने में लगता था, उन्हें खास जरूरत नहीं थी। ऋग्वेद में कोई ऐसा शब्द नहीं है जिससे टिन अथवा काँसे का बोध हो। ऐसे भी हड़प्पा के

---

1. जार्ज इरडोसी, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में केयोनर का लेख, पृ॰ 233.
2. सर मार्टिमर व्हीलर, दि इंडस सिविलाइज़ेशन, तृतीय संस्करण, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1968, पृ॰ 84.
3. जार्ज इरडोसी, सं॰ उद्धृत पुस्तक, में केयोनर का लेख, पृ॰ 230.

बाहर वाले क्षेत्र में टिन का प्रयोग 1000 ई॰ पू॰ तक भी बड़े पैमाने पर नहीं हुआ। तांबे के जखीरों में पाए गए बहुत से समानों की जाँच की गई है पर डी॰ पी॰ अग्रवाल के अनुसार उनकी बनावट में टिन नहीं मिलता है।[1] मध्य भारत के चार और बिहार के एक ताम्रपाषाणिक स्थलों में थोड़ा-सा टिन मिला है।[2] यह आश्चर्य का विषय है कि गुजरात, मध्य प्रदेश के बस्तर और छोटानागपुर पठार के कई स्थानों पर काफी टिन पाए जाने पर भी ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों में इसका प्रयोग खास तौर से नहीं पाया जाता है।

गांगेय क्षेत्र के लोगों ने कैसे तांबे में टिन मिलाकर कांसा बनाना सीखा, इस पर अनुसंधान करने की आवश्यकता है। भाई-बंधु वाले समाज में गोतियों के देशान्तरण के कारण तकनीकी प्रसार हो सकता है।[3] किंतु यह बात वर्ग और वर्ण-विभाजित समाजों पर लागू नहीं होती है। यह समझना गलत होगा कि परिपक्व हड़प्पाई संस्कृति में भाई-बंधु वाले समाज का जोर था। बस्तियों और शहरों के उजाड़ होने पर अपनी जीविका और पुनर्वास की खोज में लगे दस्तकारों ने विभिन्न क्षेत्रों में तकनीक का प्रसार किया होगा। हम जानते हैं कि 2000 ई॰ पू॰ के आस-पास बहुत-सी ताम्रपाषाणिक बस्तियां[4] और 300 से 600 ई॰ सन् में बहुत-से शहर[5] उजाड़ हो गए। इन बर्बादियों से कुछ इलाकों में सांस्कृतिक निरंतरता का अंत होता है, किंतु दूसरे इलाकों में तकनीकी प्रसार की संभावना पैदा होती है। यह कहा गया है कि दूरदेशी व्यापार के ह्रास[6] अथवा वैदिक अनुष्ठान चलाने वाले पुरोहितों के प्रभुत्व[7] के कारण हड़प्पाई लेखन कला का विलोप हुआ। इनमें से पहला कारण समझ के बाहर है। दूरदेशी व्यापार छठी सदी से कम-से-कम दो सदियों तक भारत में बहुत घट गया,[8] किंतु देश में लेखन कला चलती रही। वैदिक पुरोहितों ने हड़प्पाई लिपि का कैसे अंत

---

1. ए॰ घोष, इ॰ आई ए॰, जिल्द 1 में डी॰ पी॰ अग्रवाल, 'मेटल्स (टेकनालॉजि), पृ॰ 324.
2. वही, पृ॰ 328.
3. इरडोसी, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में केयोनर का लेख।
4. शर्मा, दि स्टेट एंड वर्ण फॉर्मेशन इन दि मिड-गंगा प्लेनस, एन एथनोआर्किअलॉजिकल व्यू, मनोहर, दिल्ली, 1996, पृ॰ 33.
5. शर्मा, अर्बन डिके इन इंडिया (सी॰ 300- सी॰ 100), मुंशीराम मनोहर लाल, नयी दिल्ली, 1987.
6. इरडोसी, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में केयोनर का लेख, पृ॰ 223.
7. वही, 234.
8. शर्मा, 1987, उद्धृत पुस्तक, पृ॰ 135-138.

किया, यह भी रहस्यमय है। इसके अंत का एक ही कारण मालूम पड़ता है कि बहुत-से निरक्षर पशुचारी, जिन्हें लिपि की आवश्यकता नहीं थी, देश में आकर बस गये। उनके आने के कारण अंततोगत्वा घोड़े, आरे वाले पहिए, दाह कर्म, अग्नि पूजा और सबसे बढ़कर हिंद-आर्य भाषा का प्रसार मध्य गंगा के मैदानों में हुआ। मध्य गांगेय क्षेत्र में जहाँ-तहाँ ऐसे छोटे-छोटे इलाके मिले हैं जहाँ द्रविड बोलियां अभी तक कायम हैं। हो सकता है कि उत्तरी काले पालिशदार बरतन वाले युग के पहले द्रविड़ भाषा मध्य गंगा के क्षेत्र में चलती थी। बहुत-से प्राचीन समाजों में विजितों ने विजेताओं को सांस्कृतिक रूप से जीत लिया। किंतु आर्य आगमनकारी काफी मजबूत और बहुसंख्यक थे जिस कारण उन्होंने हड़प्पाई संस्कृति में आमूल परिवर्तन किया। व्हीलर के सैंधव क्षेत्र पर आर्य आक्रमण संबंधी मत की पुष्टि पुरातत्त्व से नहीं होती है, पर उनका यह कहना ठीक ही है कि सैंधव सभ्यता अपने भौतिक स्वरूप की विरासत छोड़ने में बिल्कुल असफल रही।[1]

आर्य संस्कृति का विश्लेषण

आर्य संस्कृति की विशेषताओं के उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि किसी भी विशेषता के विषय में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि वह 2000 ई॰पू॰ के पहले भारत की किसी संस्कृति में उपस्थित थी। यह बात अश्व पालन, आरे वाले चक्के का प्रयोग, युद्ध रथ के प्रचलन, दाह कर्म की प्रथा और सोम पान पर भी लागू होती है। अग्नि पूजा और अश्वमेध यज्ञ के विषय में भी यही स्थिति है। और सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि आर्य भाषा के प्रचलन का पूरा अभाव है। आर्य संस्कृति की सारी विशेषताएं एक-एक करके भारतीय उपमहादेश से बाहर मिलती हैं। अतएव उन्हें 2000 ई.पू. से पहले हड़प्पा या भारत की किसी अन्य समकालीन संस्कृति में खोजने का प्रयास निरर्थक है।

---

1. व्हीलर, उद्धृत पुस्तक, पृ॰ 137.

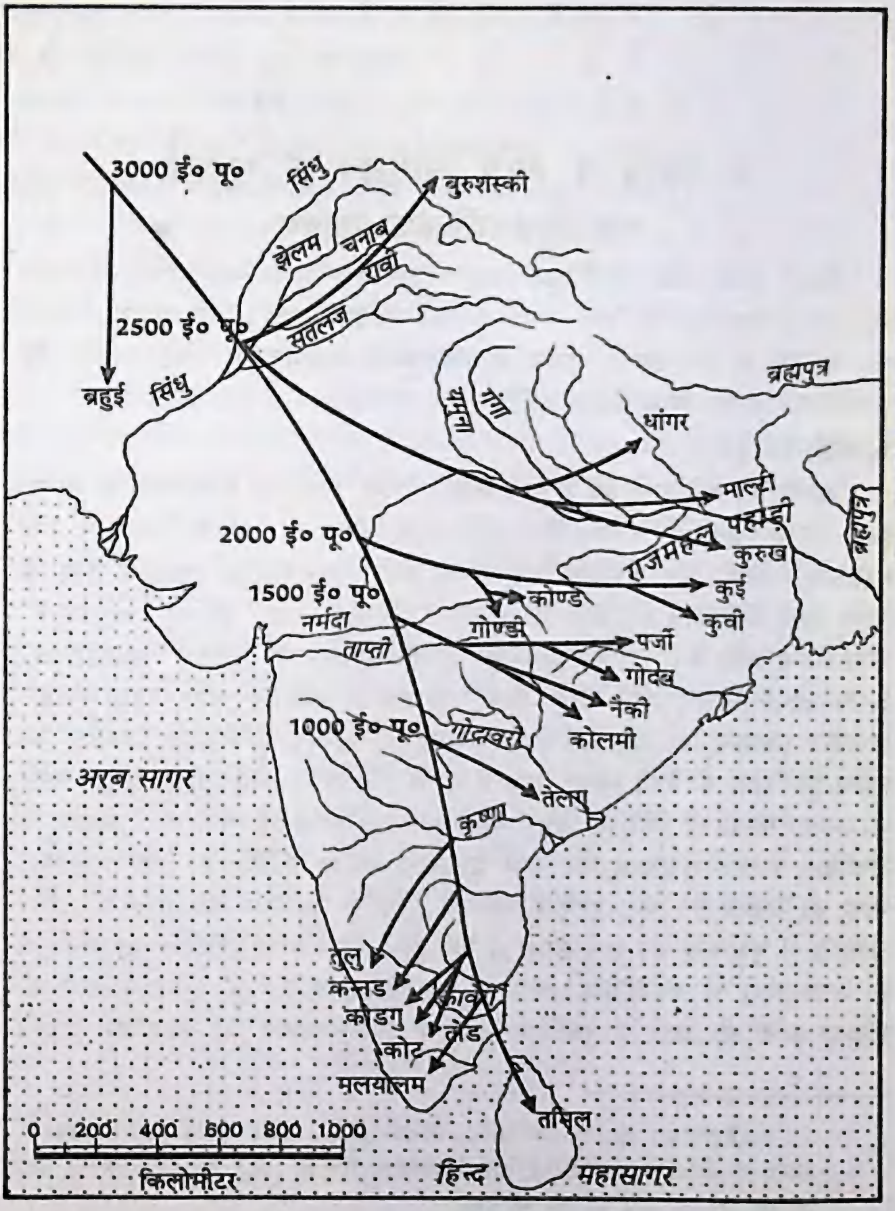
3000 ई० पू०
सिंधु
बुरुशस्की
झेलम
चनाब
रावी
2500 ई० पू०
सतलज
ब्रहुई
सिंधु
ब्रह्मपुत्र
यमुना
गंगा
धांगर
माल्दी
पहाड़ी
कुरुख
2000 ई० पू०
राजमहल
1500 ई० पू०
कोण्डे
कुई
नर्मदा
गोण्डी
कुवी
ताप्ती
पर्जी
गोदल
नैकी
1000 ई० पू०
गोदावरी
कोलमी
अरब सागर
तेलगु
कृष्णा
तुलु
कन्नड
कोडगु
कोट
मलयालम
तमिल
0 200 400 600 800 1000
किलोमीटर
हिन्द महासागर

3. भारत में आर्य आगमन के भाषाई एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य

सैंधव सभ्यता को ऋग्वैदिक सिद्ध करना एक प्रकार का दुराग्रह है। आगे बतलाया जायेगा कि कैसे हिंद-आर्य भाषाभाषी दक्षिणी मध्य एशिया से भारत आये। इस अध्याय में हमें विचार करना है कि उनके आगमन के भाषा संबंधी और पुरातात्त्विक प्रमाण किस प्रकार के हैं।

भाषाई विभेद

ऋग्वेद के कई उल्लेखों से पता चलता है कि आर्यों का जिन लोगों से सामना हुआ उनकी भाषा भिन्न थी। दस्यु और पणि आर्यों के बड़े शत्रु थे और उन्हें मृध्रवाच् बतलाया गया है। इस विशेषण का प्रयोग दूसरे विरोधी लोगों के लिए भी किया जाता है। यद्यपि मृध्रवाच् का अनुवाद "अपमानजनक" अथवा "शत्रुतापूर्ण" भाषा किया जाता है किंतु ब्रिटिश संस्कृत विद्वान मुइर इसका अनुवाद "तुतलानेवाली अथवा समझ में नहीं आने वाली बोली" के रूप में करते हैं। जर्मन संस्कृत विद्वान हिलेब्रैंट मृध्रवाच् को शत्रु की बोली बतलाते हैं। ऋग्वेद में जब इस विशेषण का प्रयोग पुरू जनों के लिये किया जाता है तो वे (हिलेब्रैंट) बतलाते हैं कि इन लोगों की अलग बोली थी और यह बोली भरत जनों की बोली से भिन्न थी।[1] ऋग्वेद के टीकाकार सायण मृध्रवाच् का अर्थ वाधवाच् लगाते हैं जिसका अर्थ शत्रुतापूर्ण भाषा हो सकता है। किंतु दस्युओं की जो नृजातीय अवस्था का वर्णन है[2] उसके आलोक मे मृध्रवाच् का अर्थ समझ में नहीं आने वाली बोली ही ठीक मालूम पड़ता है। उपमहादेश के जनजातीय इलाके में द्विभाषी जनजातियों के एकभाषी होने की प्रक्रिया अभी भी जारी है। पुरुलिया जिले में बंगला भाषियों के सामाजिक वर्चस्व

---

1. ए॰ ए॰ मैकडोनेल एंड ए॰ बी॰ कीथ, वैदिक इंडेक्स ऑव नेम्स एंड सब्जेक्ट्स, जिल्द I, मोतीलाल बनारसीदास, तीसरा पुनर्मुद्रण, दिल्ली, 1967, पृ॰ 347-49, पृ॰ 348 पर पा॰ टि॰ 11 और 12 को भी देखें।
2. आर॰ एस॰ शर्मा, शूद्राज़ इन एन्शॅन्ट इंडिया, तीसरा संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली. 1990, पृ॰ 13-16, 25-26.

और पर्याप्त संख्यक होने के कारण 1950 तक उस जिले की कुरमी जनजाति ने कुरमाली भाषा को त्याग दिया और बंगला को अपना लिया।[1]

उत्तर में द्रविड भाषा का प्रचलन

हमलोग अवैदिक जनों की भाषाओं को नहीं पहचान सके हैं, तो भी जहाँ-तहाँ इसके संकेत मिलते हैं। बलूचिस्तान में ब्रहुई बोलने वालों का इलाका मिला है जिसमें तीन प्रकार की द्रविड बोलियाँ प्रचलित हैं। अधिकांश ब्रहुई द्विभाषी है; वे ब्रहुई और बलूची बोलते हैं। पाकिस्तान के 1961 की जनगणना के अनुसार लगभग चार लाख लोगों की मातृभाषा ब्रहुई थी। वे केवल बलूचिस्तान ही में नहीं बल्कि सिंध में भी पाए जाते हैं। ईरान, अफगानिस्तान और तुर्कमेनिस्तान के कुछ हिस्सों में भी ब्रहुई बोली जाती है। 1980 के लगभग ब्रहुई बोलने वालों की पूरी आबादी छह लाख आंकी गई है।[2] हड़प्पाई काल में बलूचिस्तान उत्तरी द्रविड भाषा परिवार का भाग रहा होगा और इसका संबंध एलम की भाषा से रहा होगा जो दक्षिण ईरान, अफगानिस्तान और बलूचिस्तान में प्रचलित थी।[3] द्रविड भाषा के अवशेष उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश और पाकिस्तानी कश्मीर में भी पाए जाते हैं। यहां बुरुशस्की नामक एक बोली है जिसमें आद्य द्रविड से संबद्ध अनेक शब्द मिलते हैं।[4] यह भी ध्यान देने का विषय है कि ऋग्वेद में बहुत से द्रविड भाषा के शब्द पाये जाते हैं। आर० एल० टर्नर की पुस्तक ए कम्पैरटिव डिक्शनरी ऑव दि इंडो-आर्यन लैंग्वेजेज में अनेक ऐसे द्रविड शब्द मिलते हैं जो हिन्दी तथा अन्य हिंद-आर्य भाषाओं में पाए जाते हैं। ये शब्द हैं– कुण्ड, कुण्डल, कुलत्थ, कुलाल, काका, खर इत्यादि। इस प्रकार के शब्दों का प्रचलन केवल हिन्दी भाषी क्षेत्रों में ही नहीं है बल्कि गुजरात, राजस्थान और महाराष्ट्र में भी है। यदि उत्तर पश्चिम भारत में द्रविड भाषाभाषी मौजूद नहीं थे तो फिर वैदिक भाषा और बाद में अन्य हिंद-आर्य भाषाओं में ये शब्द कहाँ से आए? हाल के भाषाशास्त्रीय शोधों से पता चलता है कि द्रविड भाषाभाषी सिंधु घाटी में हड़प्पाई और उत्तर हड़प्पाई काल में रहते थे।[5]

---

1. 1948 में मानभूम जिले में मेरे द्वारा किए गए सर्वेक्षण पर आधारित तथ्य।
2. एम. एम. एन्द्रोनॉव, द्रवीडियन लैंग्वेजेज, नौका पब्लिशिंग हाऊस, मॉस्को, 1970 पृ. 23; ब्रहुई लैंग्वेज, नौका पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को, 1980, पृ० 15.
3. शर्मा, लुक्इंग फॉर आर्यन्स्, मद्रास, 1994, पृ० 67-70.
4. नौर्मन एच० जाइड करेंट ट्रेंडस इन लिन्ग्विसटिक्स, जिल्द 5, लिन्ग्विसटिक इन सेंट्रल एशिया, मुंचेन, हेग, 1969 में ब्रज कचरु, 'कश्मीरी एंड अदर दरदिक लैंग्वेजेज', पृ० 284-306.
5. जॉर्ज इरडोसी, सं०, दि इंडो-आर्यन्स् ऑव एन्शॅन्ट साउथ एशिया, नयी दिल्ली, 1997 में फ्रैंकलिन सी०साउथवर्थ, "रीकन्स्ट्रक्टिंग सोशल कॉन्टेक्स्ट फ्रॉम लैंग्वेज: इंडो-आर्यन् एंड द्रविडियन प्रीहिस्ट्री", पृ० 258-77.

नेपाल की तराई के कुछ भाग में धांगर या धांगरी नामक द्रविड बोली पाई जा है। यह छोटानागपुर में बोली जानी वाली उड़ांव की कुरुख नामक द्रविड भा परिवार से निकली है।[1] भौगोलिक दृष्टि से तराई मध्य गंगा क्षेत्र में पड़ती है। ऐ लगता है कि धांगर नामक जनजाति धांगर बोली बोलती थी। बाद में यह जनजा हिन्दू जाति बन गयी जो केवल तराई में ही नहीं बल्कि मधुबनी जिले में भी पा जाती है। आजकल ये लोग भूमिहीन खेतिहर हैं और कुआँ खोदने का काम कर हैं। ये कुछ मैथिलीभाषी गाँवों में पाए जाते हैं, और उच्च वर्ण के मैथिलीभा धांगर शब्द का प्रयोग उन लोगों के लिए करते हैं जिन्हें वे असभ्य समझते हैं। ध्या रखना चाहिए कि हिन्दी कोश में धांगर को अनार्य जाति बतलाया गया है।[2] धां के अतिरिक्त मध्य गंगा क्षेत्र के पूरबी छोर पर राजमहल की पहाड़ियों में माल्ट भाषा बोली जाती है जो द्रविड परिवार की है। उत्तरी महादेश के बिहार जैसे पूर्व भाग में अनेक मुण्डारी शब्द मिलते हैं। गैंडा के लिये संस्कृत में खड्ग और गण्ड शब्द का प्रयोग हुआ है। गण्ड से ही गण्डक नाम निकला है। टर्नर के अनुसार ये शब्द मुण्डारी हैं। चाहे लोग द्रविड बोलें या मुण्डारी, इसमें संदेह नहीं कि आर्यों के आने के पहले उत्तरी भारत में अनार्य भाषाएँ प्रचलित थीं। अंततोगत्वा सिंधु घाटी ईरान, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और मध्य गांगेय क्षेत्र के वासियों ने हिंद-आर्य भाषा को अपनाया।

हिंद-आर्य भाषा का प्रसार

पुरातात्त्विक सामग्री से हड़प्पा पर आर्यों का आक्रमण सिद्ध नहीं होता है। किंतु फिनलैंड के पुरातत्त्वविद् और भाषाशास्त्री परपोला का मत है कि भारत के बाहर बैक्ट्रिया और मार्जियाना क्षेत्र में आर्यों तथा दास-दस्युओं के बीच लगातार युद्ध चलता रहा। इस क्षेत्र में उन्होंने इस प्रकार की संरचना की पहचान की है जिसका वर्णन ऋग्वेद में है।[3] इस क्षेत्र की विजय के कारण हिंद-आर्यों ने अपनी भाषा को फैलाया होगा। अमरीकी पुरातत्त्वविद् शैफर का मत है कि विस्तृत क्षेत्र में व्यापार का जाल बिछ जाने के कारण आर्य भाषा का प्रसार हुआ होगा।[4] किंतु वे स्वयं बतलाते

---

1. देखिए धांगरी और कुरूख, भोलानाथ तिवारी, भाषा विज्ञान शब्द कोश, ज्ञानमंडल वाराणसी, संवत् 2030.
2. कालिका प्रसाद तथा अन्य, सं॰, वृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल, बनारस, संवत् 2013.
3. इरडोसी, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में अएस्को परपोला, "दि प्रॉब्लम ऑव दि आर्यन्स् एंड सोमः टेक्स्टयूअॅल-लिन्ग्विस्टिक एंड आर्किअलॉजिकल एविडेंस", पृ॰ 367-68.
4. जॉन आर॰ लुकाज, सं॰, दि पीपॅल ऑव् साउथ एशिया, न्यू यॉर्क एंड लंदन, 1984 में जिम शैफर, "दि इंडो-आर्यन् इन्वेजन्सः कल्चरल मिथ एंड आर्किअलॉजिकल रिऐलिटि", पृ॰ 86-87.

हैं कि तीसरी सहस्त्राब्दि ई० पू० में हड़प्पाई संस्कृति अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में किसी बड़े पैमाने पर संलग्न नहीं थी।[1] हमारी दृष्टि में मध्य एशिया के पशुचारी और खेतिहर जनजातियों के लिये बड़े पैमाने पर व्यापार करना तो और भी दुर्लभ था। दूसरी सहस्त्राब्दि ई० पू० में व्यापार का बड़ा फैलाव होने का कोई पुरातात्त्विक साक्ष्य नहीं मिलता है। और फिर आधुनिक युग में भी व्यापार के कारण यदि भाषा फैलती है तो यह जनसमुदाय के दो-तीन प्रतिशत लोगों तक ही सीमित रहती है। प्राचीन काल में धर्म प्रचार के द्वारा भी भाषा को बड़े पैमाने पर फैलाना असंभव था क्योंकि आज कल के औद्योगिक युग के आवागमन के साधन उपलब्ध नहीं थे।

ब्रिटिश पुरातत्त्वविद् रेनफ्रू के मतानुसार कुछ लोगों के सामाजिक एवं राजनीतिक वर्चस्व के कारण भाषा फैलती है, और फिर यदि ये लोग जीवन यापन का अधिक उत्पादनकारी साधन प्रस्तुत करते हैं तो उसके कारण भी भाषा का प्रसार होता है।[2] इस संदर्भ में हमें याद रखना चाहिए कि आर्यों के पास जीवन यापन के नये और कारगर साधन थे, जैसे- घोड़े, युद्ध रथ, आरे वाला पहिए और विभिन्न अस्त्र और औजार। साथ-ही-साथ कांसे से भी उनका पूरा परिचय था। इस प्रकार तकनीकी क्षेत्र में वे निश्चित रूप से आगे थे। ये सारी सामग्रियां खुदाई में वोल्गा क्षेत्र में सिनतश्ता घाटी की कब्रगाह में मिली है, और साथ-ही-साथ दक्षिण तुर्कमेनिस्तान और उत्तर अफगानिस्तान में भी मिली है। ये सारी सामग्रियां आद्य हिंद-ईरानियों की मानी गयी हैं। इस तकनीकी बढ़त के अतिरिक्त आर्यों के बीच अग्नि पूजा, सोम पान और दाह कर्म का भी चलन था। ऐसा लगता है कि तकनीकी और अनुष्ठानिक कारणों से हिंद-आर्य सरदारों और पुरोहितों का सामाजिक वर्चस्व कायम हो गया था, और इसी वर्चस्व के कारण उनकी भाषा फैलती चली गयी। किंतु यदि वे भारतीय उपमहादेश में नहीं आते तो फिर उनकी भाषा यहां कैसे फैलती? यहां हिंद-आर्य भाषा जिस पैमाने पर फैली है उससे पता चलता है कि प्रारंभ में भी इसके बोलने वाले की संख्या काफी थी। यदि हम यह कहें कि यहां न आर्यों का आक्रमण हुआ और न वे बड़े-बड़े दल में दो-तीन बार आये तो फिर यह संभव है कि वे सदियों तक लगातार आते रहे जिससे उनकी भाषा फैली। यह याद रहे कि स्थानान्तरण जन समुदाय का होता है, संस्कृति या भाषा का नहीं।[3] जब हम प्राक् औद्योगिक युग में विशेषकर प्रागऐतिहासिक काल में भाषा के प्रसार की बात करते हैं तो यह असंभव लगता है कि बड़ी संख्या में हिंद-आर्य भाषाभाषियों के बिना आए उनकी भाषा इस

---

1. लुकाज, सं०, उद्धृत पुस्तक, में शैफर का लेख, पृ० 86-87.
2. सी० रेनफ्रू, आर्किअलॉजि एंड लैंग्वेज: दि पज़्ल ऑव इंडो-यूरोपियन ऑरिजिन्स, पेनगुइन, हरमण्ड्सवर्थ, 1989.
3. अमेरिकन एन्थ्रपॉलजि, जिल्द 82, संख्या 4 में डेविड डब्ल्यू० अन्थोनी, "माइग्रेशन इन आर्किअलॉजि: दि बेबि एंड बाथवाटर", पृ० 908.

देश में फैल गयी। भारतवर्ष को चमत्कारों का देश माना जाता है। उसी प्रकार अ के आये बिना उनकी भाषा का बड़े पैमाने पर फैलना भी चमत्कार ही माना जाये

उत्तर की हड़प्पोत्तर संस्कृतियों में आर्य तत्त्व

पुरातत्त्वविद् एस॰ आर॰ राव भारत को आर्यों का उद्गम स्थान मानते हैं। पर इस बात का उल्लेख करते हैं कि कच्छ, राजस्थान, हरियाणा, पंजाब, जम्मू क कश्मीर में परवर्ती हड़प्पाई काल सौराष्ट्र और गुजरात की अपेक्षा अधिक दिनों त नहीं चला।[1] अर्थात् परवर्ती हड़प्पाई दक्षिण में अधिक दिनों तक चलते रहे और उ में कम दिनों तक।[2] दोनों के बीच जो काल संबंधी अन्तर है उसका कारण यह कि उपमहादेश के उत्तरी भाग में नयी संस्कृतियों का उदय हुआ।

ये सारी नयी संस्कृतियां आर्य भाषाभाषियों की नहीं थी। मोहेनजांदड़ो उत्खनक अरनेस्ट मैके का कहना है कि झांगड़ और झूक्कड़ संस्कृतियां उस का में पड़ती हैं जो हड़प्पाई स्थलों के उजाड़ और आर्य भाषाभाषियों के 1500 ई॰ पू में आगमन के बीच पड़ता है। झूक्कड़ के लोग ऐसी मुहरों एवं बरतनों का इस्तेमा करते थे जो हड़प्पा से बिल्कुल नहीं मिलते हैं। अतएव मैके ने यह बतलाया है कि उनके आर्य आक्रान्ताओं के अगुआ होने की संभावना पर विचार करना चाहिए।

आर्य आगमन का पुरातात्त्विक आधार

उत्तरी भारत में आर्य संस्कृति के प्राचीनतम पुरातात्त्विक अवशेष उत्तरी बलूचिस्ता में जॉब नदी पर अवस्थित पेरियानो नामक स्थल पर मिलते हैं, बोलन दर्रे के निक पिराक में पाये जाते हैं, गोमल दर्रे के निकट गोमल घाटी में गुमला में मिलते हैं औ सबसे अधिक स्वात घाटी में गंधार के कब्रगाहों में पाये जाते हैं। यह सारे स्थल उपमहादेश की सीमा पर पड़ते हैं और इन स्थानों में घोड़े के प्रयोग और शव दा की प्रथा मिलती है। यह दाह की प्रथा उसी प्रकार की है जैसी प्रथा मध्य एशिय के अन्द्रोनॉवो संस्कृति की एक शाखा में मिलती है।[4] सबसे पहले हमलोग पेरियान घुंडाई (टीला) के विषय में चर्चा करेंगे। यह स्थल जॉब नदी पर स्थित है और जॉ

---

1. जी॰ पोसेल, सं॰, हड़प्पन सिविलाइज़ेशनः ए कनटेमपररि पर्सपेक्टिव में बी॰ ब लाल, "न्यू लाइट ऑन दि पोस्ट अरबन, लेट हड़प्पन फेज ऑव दि इंडस सिविलाइज़ेश इन इंडिया", पृ॰ 358.
2. एस॰ मलिक एंड एस॰ ए॰ चंचल, दि आर्यन्स् एंड दि इंडस सिविलाइज़ेशन, दीनाथ प्रकाशन, ढाका, 1995, पृ॰ 13.
3. अरनेस्ट मैके, अर्ली इंडस सिविलाइज़ेशन, डोरथी मैके के द्वारा परिवर्द्धित एव संशोधित द्वितीय संस्करण, इंडोलॉजिकल बुक्स कॉपोरेशन, दिल्ली, 1976, पृ॰ XI 4,114,126,154,157.
4. इरडोसी, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में परपोला का लेख, पृ॰ 357-66.

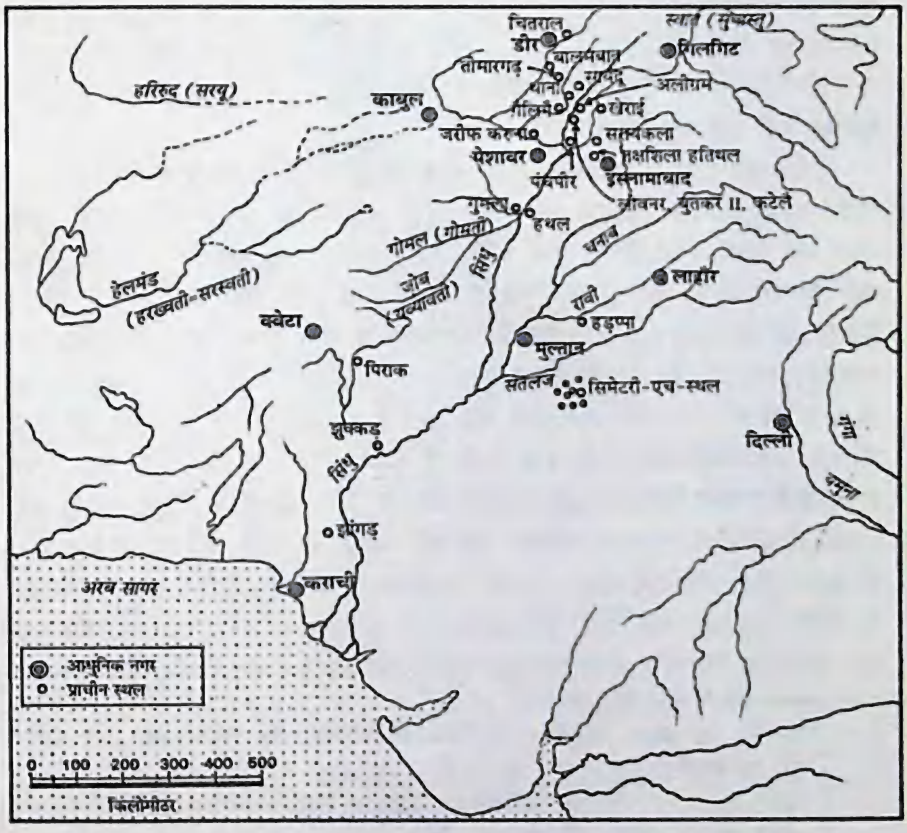
चितराल
डीर
गिलगिट
तोमारगढ़
हरिरुद (सरयू)
काबुल
अलीग्रम
खेराई
जरीफ करुना
सतयकला
पेशावर
तक्षशिला हतिथल
इस्लामाबाद
पंचपीर
गुमला
हथल
गोमल (गोमती)
चनाब
हेलमंड
(हरख्वती-सरस्वती)
जोब
(यव्यावती)
सिंधु
लाहौर
रावी
क्वेटा
हड़प्पा
मुल्तान
पिराक
सतलज
सिमेटरी-एच-स्थल
झुक्कड़
दिल्ली
गंगा
यमुना
झांगड़
अरब सागर
कराची
आधुनिक नगर
प्राचीन स्थल
0 100 200 300 400 500
किलोमीटर

की पहचान ऋग्वेद में चर्चित यव्यावती (यव से समृद्ध) नदी से की गयी है। इस स्थल में आबादी 2000 ई॰ पू॰ के आस-पास मिलती है, और यहां के वासी लम्बे भस्म कलश में मृतकों के जले हुए अवशेष को ठीक घर के भीतर गाड़ते थे। इस स्थान में मिट्टी का बना घोड़ा भी मिला है। प्रख्यात भारतीय पुरातत्त्वविद साँकलिया का विचार है कि इस स्थान में ईरानी और हड़प्पाई दोनों विशेषताएं मिलती हैं।[1]

बलूचिस्तान में बोलन दर्रे के पास पिराक दूसरा स्थान है जहां घोड़े और बल्ख वाले ऊंट के मॉडल 1800 से 1700 ई॰ पू॰ में मिलते हैं। यहां के वस्तुओं की शैली हड़प्पा की शैली से बिल्कुल भिन्न है और फ्रांसीसी पुरातत्त्वविद् जारिग के अनुसार यहां के अवशेषों से दक्षिण मध्य एशिया स्थित बैक्ट्रिया-मार्जियाना से लोगों के बड़े घुसपैठ होने का पता चलता है।[2]

स्वात की घाटी में अवस्थित स्वात क्षेत्र को पुरातत्त्वविद् गंधार कब्र संस्कृति का स्थान मानते हैं। इस संस्कृति का जन्म 17वीं शताब्दी ई॰ पू॰ के आस-पास हुआ। गंधार की चर्चा उत्तर वैदिक ग्रंथों में है। किंतु ध्यान रखने का विषय है कि स्वात नदी ऋग्वेद में चर्चित सुवास्तु नदी है। ऋग्वेद में कहा गया है कि इस नदी के किनारे पर त्रसदस्यु नामक राजा ने उदारतापूर्वक दान दिया। इस राजा को अर्य बतलाया गया है, और सायण ने इस उपाधि का अर्थ स्वामी लगाया है। सुवास्तु नदी के घाट पर भूरे रथ और घोड़े होने की चर्चा है।[3] 1300 ई॰ पू॰ से स्वात की घाटी में दाह कर्म वाले बहुत-से कब्र मिले हैं जिनमें घोड़े के अवशेष और उनके साज-बाज मिलते हैं। इस घाटी में कुछ बस्तियां भी मिलती हैं। लोग पहाड़ों और उनकी ढलाईयों पर रहते थे जिनकी दूरी नदी किनारे से बहुत नहीं थीं। इन बस्तियों में कुछ गड्ढे वाले घर भी मिलते हैं।[4] इस प्रकार के वास स्थानों से हमें ऋग्वेद में चर्चित गर्त की याद आती है।[5] लोग पत्थर के घर भी बनाते थे जिसे हम गुहा कह सकते हैं। ऋग्वेद में उल्लिखित गुहा शब्द का अनुवाद सायण की टीका के

---

1. ऋग्वेद, VI. 27.6; एच॰ डी॰ साँकलिया, दि प्रीहिस्ट्री एंड प्रोटोहिस्ट्री ऑव इंडिया एंड पाकिस्तान, पूना, 1974, पृ॰ 324.
2. ब्रिजेट एंड रेमंड ऑलचिन, ऑरिजिन्स ऑव ए सिविलाइज़ेशन, दि प्रीहिस्ट्री एंड अर्ली आर्किअलॉजि ऑव साउथ एशिया, वाइकिंग, पेंगुइन, बुक्स इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, 1997, पृ॰ 213.
3. ऋग्वेद, VIII. 19.36-37.
4. दानी एंड मैसन, सं॰, हिस्ट्री ऑव सिविलाइज़ेशन इन सेंट्रल एशिया, जिल्द I, पेरिस, 1992 में दानी, "पैस्टॉरल ऐग्रिकलचरल ट्राइब्स ऑव पाकिस्तान इन दि पोस्ट-इंडस पिअरइअड", पृ॰ 404-13.
5. देखिये गर्त मोनिअर-विलियम्स, संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी।

आधार पर गुफा, गुप्त स्थान, पवित्र कोठरी, छिपा हुआ घर इत्यादि किया जाता है। सायण गुहा को यज्ञ स्थल भी मानते हैं। किन्तु गुहा से पत्थर के घर और गड्ढे वाले घर दोनों का बोध होता हैं क्योंकि इस प्रकार के घर गोमल घाटी और स्वात घाटी दोनों में पाये जाते हैं। स्वात घाटी में गैलिगै में हुए उत्खननों से चट्टानों में आश्रय स्थल पाये गये हैं, और उनकी तिथि लगभग 3000 ई॰ पू॰ से 1700 ई॰ पू॰ तक है। इन चट्टानी आश्रयों को पशुचारी घुमक्कड़ों का मनपसंद खेमा बतलाया गया है, और ऐसा लगता है कि इन ने गैलिगै संस्कृति की निरन्तरता को नष्ट कर दिया।[1]

ऋग्वेद में गुहा शब्द का बहुधा उल्लेख मिलता है, और इसमें वैदिक देवताओं और पशुओं दोनों के रहने की चर्चा है। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्वात और गोमल में पाए गए चट्टानी आश्रय अथवा पत्थर के बने घर गुहा का काम करते थे।[2] ऋग्वेद में अश्मन् और अश्मयीपुर् का भी उल्लेख है।[3] इससे भी पत्थर के घरों और चट्टानी आश्रयों का बोध होता है।

इसके अतिरिक्त स्वात घाटी में लोवनर-3 नामक स्थान में बड़े अण्डाकार गड्ढे वाले घर या तहखाने मिले हैं, और समान जमा करने वाले गड्ढे भी मिले हैं। इन दोनों की तुलना कश्मीर में स्थित बुर्जहोम वाले गड्ढे के घर से की जाती है, और पूरबी तिब्बती पठार तथा उत्तर-पूरबी चीन में पाये गये गड्ढे के घरों से की जाती है।[4] हाल में हिसार जिले में कुणाल की खुदाई में ताम्रपाषाण कालीन गड्ढे वाले घर मिलने की खबर दी गयी है पर गड्ढे के घर बनाकर रहने की प्रथा हिंद-यूरोपियों में पहले से प्रचलित थी। यह उनकी यामन्या संस्कृति में मिलती है जो वोल्गा-यूराल में चौथी और तीसरी सहस्त्राब्दि ई॰पू॰ में पायी जाती है। बाद में यह दूसरी सहस्त्राब्दि ई॰ पू॰ में अन्द्रोनॉवो संस्कृति में मिलती है जो सारे मध्य एशिया में फैली थी और जिसे आद्य हिंद-आर्यों और आद्य हिंद-ईरानियों की संस्कृति बतलायी जाती है। अतएव मध्य एशिया के पशुचारी लोग ऐसे घरों से पहले से ही परिचित थे। जब वे स्वात घाटी और उत्तर भारत के अन्य स्थानों में आए तो उन्होंने यहां गड्ढे में वास करने की प्रथा को चलाया और अपनाया। बुर्जहोम में जो गड्ढे वाले घर मिलते हैं उनकी व्याख्या ऋग्वेद के आलोक में की गयी है।[1] ऋग्वेद के प्राचीन भाग में जो

---

1. आर॰ डब्लू॰ इहरिच, सं॰, क्रनोलजिइज् इन ओल्ड आर्किअलॉजि, जिल्द-1, 1992 में जिम जे॰ शैफर, "इंडस वैली, बलूचिस्तान एंड दि हेलमण्ड", पृ॰ 443-46.
2. दानी एंड मैसन, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में दानी का लेख, पृ॰ 403.
3. विल्हेल्म राऊ, दि मीनइंग ऑव पुर् इन वैदिक लिटअरेचअर, मुंचेन, 1976, पृ॰ 26-27.
4. इहरिच, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में शैफर का लेख, पृ॰ 446.

गर्त शब्द का प्रयोग हुआ है उससे गड्ढे वाले घर का बोध होता है।

इसमें संदेह नहीं कि गोमल और गंधार निवासी पक्की ईंट का इस्तेमाल न करते थे। उनके बरतनों से पता चलता है कि वे देहाती थे।[2] अतएव स्वात निवा भारत उपमहादेश में प्राचीनतम हिंद-आर्य भाषाभाषी थे। उनके पुरावशेषों में अ संस्कृति के प्रमुख लक्षण मिलते हैं। स्वात के कब्रगाहों में जो सामग्री मिली है उस निकट सम्बन्ध ईरान और कॉकसस क्षेत्र की सामग्रियों से जोड़ा गया है किंतु रू पुरातत्त्वविद् खुजमिना का विचार है कि स्वात की सामग्री दक्षिण ताजिकिस्तान 1500 से 1000 ई० पू० के बीच पायी गयी सामग्री से मिलती जुलती है।[1] संभव ऐसा भी हो सकता है कि स्वात और ताजिकिस्तान की सामग्री का उद्गम स्थान ए था। जो भी हो स्वात में पायी गयी कब्रिस्तान वाली संस्कृति को विशुद्ध स्थानी कृति नहीं माना जा सकता है। उस क्षेत्र में न तो घोड़े को स्थानीय तत्त्व माना ज सकता है और न ही दाह कर्म को। हां, यह लगता है कि मध्य एशिया के सम गड्ढे में घर बनाकर रहने की प्रथा से इस क्षेत्र के लोग पहले से भी परिचित थे

गोमल घाटी में कब्रों में कुछ जली सामग्री मिली है। अतएव इस प्रकार के क को मकबरा और चिता भी कह सकते हैं। कब्र के अन्दर जो सामग्री मिलती है उस घोड़े और धुरीदार चक्के भी मिलते हैं।[4] साँकलिया का मत है कि गुमला क संस्कृति आग लगाने के कारण नष्ट हुई और साथ-ही-साथ लड़ाई के कारण जिस गुलेल और मिट्टी के ढेलवास का इस्तेमाल हुआ था।[5] पाकिस्तानी पुरातत्त्ववि अहमद हसन दानी का कहना है कि कब्रिस्तानी संस्कृति वाली लोगों ने गुमला क हड़प्पाई संस्कृति को विनष्ट किया।[6] ध्यान रहे कि गुमला सिंधु नदी पर स्थित है औ गोमल घाटी से दूर नहीं है। उल्लेखनीय है कि गोमल की पहचान ऋग्वेद में वर्णि गोमती नदी से की गयी है जिसका संबंध एक आर्य सरदार से था।[7] सारी कब्रिस्ता संस्कृतियों में घोड़े के प्रयोग और दाह कर्म पाये जाते हैं जो उत्तर पश्चिम भारत

---

1. इंडियन हिसटॉरिकल रिव्यू, XXI, संख्या 1-2, जुलाई 1994/जनवरी 1995 में अ एन० नंदी, "आर्यन सेट्लमेंन्टस एंड दि ऋग्वेद", पृ० 18-19.
2. दानी एंड मैंसन, सं०, उद्धृत पुस्तक, में दानी का लेख, पृ० 415-16.
3. दानी एंड मैसन, सं०, उद्धृत पुस्तक, में लिट्विन्स्की एंड पयन्कोव, "पैस्टॉरल ट्राइ ऑव दि ब्रॉन्ज एज इन दि ऑक्सस वैली (बैक्ट्रिया)", पृ० 393.
4. दानी एंड मैसन, सं०, उद्धृत पुस्तक, में दानी का लेख, पृ० 400-01.
5. साँकलिया, उद्धृत पुस्तक, पृ० 330.
6. वही।
7. XXIV. 27-30.

पहले से प्रचलित नहीं थे। जैसा कि आगे बतलाया जाएगा, बाहर से आने वाले लोग तहखानों या गड्ढे वाले घरों से भलीभांति परिचित थे। फिर भी उन्होंने कुछ स्थानीय तत्त्वों को अपनाया होगा, जैसे कि चट्टानी आश्रयों में वास करना।

अन्त में हम कह सकते हैं कि हड़प्पा के सिमेटरी-एच और बलूचिस्तान स्थित पिराक में आर्य संस्कृति के चिह्न मिलते हैं, और ये दोनों ऋग्वेद के भौगोलिक क्षेत्र में पड़ते हैं। इससे भी महत्त्व का विषय है कि आर्य संदर्भ में ऋग्वेद की तीन चर्चित नदियों की घाटियों में ऐसे चिह्न मिलते हैं। ये नदियां हैं सुवास्तु, गोमती तथा यव्यावती। इनकी घाटियों और उनके बाहर भी हमें पर्याप्त पुरावशेष मिलते हैं जो दूसरी सहस्त्राब्दि ई० पू० के पूर्वार्द्ध में ऋग्वैदिक जनों के आगमन की सूचना देते हैं।

प्राणीवैज्ञानिक प्रमाण

यद्यपि स्वात घाटी की संस्कृति को दानी आर्य तथा इरडोसी वैदिक बतलाते हैं तथापि गंधार के कब्रो में जो नर कंकाल मिले हैं उनकी पहचान के विषय में मतभेद है। प्रश्न यह उठाया गया है कि ये नर कंकाल आर्यों के हैं अथवा दूसरों के। हमारे विचार में "आर्य" नरकंकालों को खोजने की चेष्टा करना व्यर्थ है क्योंकि "आर्य" नर कंकाल कैसा होता है, इसकी वैज्ञानिक परिभाषा नहीं मिलती है। अतएव यह पता लगाना चाहिए कि नये प्रकार के नर कंकाल मिलते हैं या नहीं। दानी ने वर्नहर्ट नामक प्राणीशास्त्री के निष्कर्ष को उद्धृत और स्वीकार किया है। वर्नहर्ट ने गंधार से 25 नर कंकालों की जांच की और बतलाया कि इसमें भूमध्यसागरीय प्रकार के नर कपाल पाये जाते हैं और इसकी शाखायें भी मिलती हैं। शाखाओं में उन्होंने कैस्पियन सागर के पार वाली शाखा और खोरासान वाली शाखा का जिक्र किया है।[1] इस विशेषज्ञ के विचार में गंधार के नरावशेष कॉकसस, वोल्गा क्षेत्र और उत्तर-पूरब ईरान में अवस्थित टेपे हिसार के कपालों में मिलते हैं।[2]

किंतु हैंपहिल, लुकस और केनेडी नामक प्राणीशास्त्रियों की टीम का कहना है कि हड़प्पाई और गंधार के नरावशेष के बीच महत्त्वपूर्ण साम्यताएं हैं[3] और इनमें कोई विदेशी तत्त्व नहीं मिलते हैं। इस टीम ने गंधार के नरावशेषों की तुलना मिश्र, अनातोलिया, मेसोपोटामिया और ईरानी पठारों के कपाल से की है। किंतु गंधारी नरावशेषों की जांच में इसने मध्य एशिया, पूरबी यूरोप अथवा रूस पर ध्यान नहीं दिया

---

1. दानी एंड मैसन, सं०, उद्धृत पुस्तक, में दानी का लेख, पृ० 407.
2. इरडोसी, सं०, उद्धृत पुस्तक, में केनेथ ए० आर० केनेडी "हैव आर्यन्स् बिन आइडेन्टिफाइड इन दि प्राहिस्ट्रॉरिक स्केलेटल रिकार्ड फ्रॉम साउथ एशिया? बाइअलॉजिकल एन्थ्रपॉलजि एंड कॉन्सेप्ट्स् ऑव एन्शॅन्ट रेसेज," पृ० 49.
3. वही।

है। इन क्षेत्रों से भी लोग भारत आ सकते हैं, इसकी कल्पना यह टीम नहीं करती है। साथ-ही-साथ प्राणिशास्त्रियों की टीम ने वर्नहर्ट की जांच पद्धति की क्या त्रुटियां हैं, इन्हें नहीं बतलायी है। दूसरी ओर टीम के सदस्य केनेडी के अनुसार गंधार में तीमारगढ़ से, सिमेटरी-एच के खुले कब्रिस्तान से और सिमेटरी आर-37 से कुछ ऐसे नमूने मिले हैं, जिनका टेपे हिसार-3 से निकटतम सादृश्य है।[1] इससे पता चलता है कि उत्तर-पूरब ईरान से उत्तर-पश्चिम भारत में 1900 से 1800 ई० पू० के आस-पास लोगों के आने का सिलसिला चल रहा था। यह भी संभव है कि हिसार के जिन लोगों की हड्डियां भारतीय उपमहादेश के लोगों से मिलती हैं वे किसी अन्य जनजाति के लोग थे जो ईरान एवं भारत दोनों देशों में आये। अतएव केनेडी के हिसार संबंधी साक्षय से वर्नहर्ट के निष्कर्ष की एक तरह से पुष्टि होती है, और टीम की यह स्थापना कमजोर होती है कि उपमहादेश में बाहर के लोगों का आवागमन बिल्कुल बन्द था।

टीम के अनुसार आवागमन दो ही बार हुआ- एक बार 6000 और 4500 ई० पू० के बीच और बाद में 800 ई० पू० के पश्चात्। इससे यह तो स्पष्ट है कि एक ही प्रकार के लोग भारत में वास नहीं कर रहे थे और स्थानान्तरण की प्रक्रिया चल रही थी। अब प्रश्न यह उठता है कि दूसरी सहस्त्राब्दि ई० पू० में यह प्रक्रिया वास्तव में चल रही थी या नहीं। केनेडी के हिसार संबंधी उदाहरण से लगता है कि स्थानान्तरण हो रहा था। फिर टीम ने 800 ई० पू० के आस-पास जो स्थानान्तरण होने का उल्लेख किया है उससे इस विचार का समर्थन होता है कि हिंद-आर्य भाषाभाषी एक-के-बाद-एक झुण्ड बनाकर आते रहे और यह इस सिद्धांत से भी मेल खाता है कि प्रथम सहस्त्राब्दि ई० पू० के प्रारंभ में जलवायु में जबर्दस्त परिवर्तन होने से पशुचारियों को मध्य एशिया से हटना पड़ा। संभव है कि यदि और भी अधिक नरावशेषों की जांच ठीक से की जाए तो दूसरी सहस्त्राब्दि ई० पू० में भी स्थानान्तरण के और उदाहरण मिलेंगे।

केनेडी पूछते हैं कि आर्यत्व की प्राणिशास्त्रीय परिभाषा क्या है। आर्यत्व की नस्ली परिभाषा जो भी हो इसमें संदेह नहीं कि आर्य भाषाभाषियों की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जिनसे आर्यत्व का बोध होता है। यदि किसी पुरातात्त्विक संस्कृति में आर्य संस्कृति की विशेषताएं मिलती हैं तो यह आवश्यक नहीं है कि वह संस्कृति किसी एक ही नस्ल वाले लोगों की कृति हो। सभी विद्वान जानते हैं कि हड़प्पाइयों के कंकाल किसी एक नस्ल के नहीं हैं। यही बात वैदिक अथवा आर्य संस्कृति पर

---

1. इरडोसी, सं० उद्धृत पुस्तक, में केनेडी का लेख, पृ० 49.

भी लागू होती है। नस्ल की दृष्टि में वह भी विभिन्न जनजातियों की कृति हो सकती है। इससे भी महत्त्व की बात यह है कि वर्नहर्ट ने जो साक्ष्य प्रस्तुत किया है उससे भी भारत के उपमहादेश में ऐसे लोगों के आगमन का पता चलता है जो घोड़े पालते थे, मुर्दे जलाते थे और वैदिक भाषा बोलते थे। पुरातत्त्वविद् माधव स्वरूप वत्स का विचार है कि हड़प्पा के एक मृतक समाधि में पाये गये बरतन पर ऐसे चित्र हैं जिनसे दाह कर्म के उन अनुष्ठानों और विश्वासों का पता चलता है जो ऋग्वेद के दसम मंडल के चौदहवें, सोलेहवें और अठारहवें सूक्त में पाये जाते हैं।[1] वे यह भी बतलाते हैं कि इन चित्रों का संबंध दाह कर्म वाले समाधि से नहीं है बल्कि मृतक शरीर के टुकड़ों को गाड़ने वाली प्रथा से है। अतएव वे इस तुलना का तुल नहीं बनाना चाहते हैं।[2]

उल्लेखनीय है कि उत्तर हड़प्पाई काल के मृतक शरीर के टुकड़े वाले जो कब्र मिले हैं उनमें जली हुई हड्डियां भी मिली हैं। बड़े-बड़े कलशों में रखे हुए कुछ बड़ी हड्डियां मिली हैं जिनके साथ खोपड़ी भी है।[3] इससे यह पता चलता है कि सिमेटरी-एच को व्यवहार करने वाले लोग आंशिक दाह कर्म भी करते थे। अतएव वत्स के अनुसार दूसरे स्तर में जो पूरे या अधूरे मृतक शरीर वाले मिट्टी के कब्र पाये जाते हैं वे ऊपर वाले स्तर के कलश में रखे हुए मृतक शरीर के भाग से बिल्कुल भिन्न हैं और वत्स इसका कारण वाह्य आगमन को बतलाते हैं।[4]

उत्तर भारत में आर्य प्रसार का पुरातत्त्व

यह उल्लेखनीय है कि खजानोव ने जलवायु में जो परिवर्तन होने की चर्चा की है उनकी तिथियां पिराक, गोमल, स्वात और चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृतियों की तिथियों से मेल खाती हैं। दूसरे चरण में आर्य प्रसार के पुरातात्त्विक प्रमाण पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मिलते हैं। इस चरण में लोहे और चित्रित धूसर मृद्भांड वाले स्थल पाये गये हैं। विभा त्रिपाठी का मत है कि लेप को छोड़कर चित्रित धूसर मृद्भांड और पिराक के मृद्भांड में कोई अन्तर नहीं है।[5] मैंने यह दिखलाया है कि उत्तर वैदिक ग्रंथों में वर्णित भौतिक संस्कृति की प्रतिच्छाया चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति में मिलती

---

1. एम॰ एस॰ वत्स, एक्सकवेशन एट हड़प्पा जिल्द- I, भारत सरकार, दिल्ली, 1940, पृ॰ 234.
2. वही, पृ॰ 209.
3. दानी एंड मैसन, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में दानी का लेख, पृ॰ 399.
4. वत्स, उद्धृत पुस्तक, पृ॰ 234.
5. विभा त्रिपाठी, दि पेंटेड ग्रे वेअर: एन आइरन एज कल्चर ऑव नॉर्दर्न इंडिया, कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग, दिल्ली, 1976.

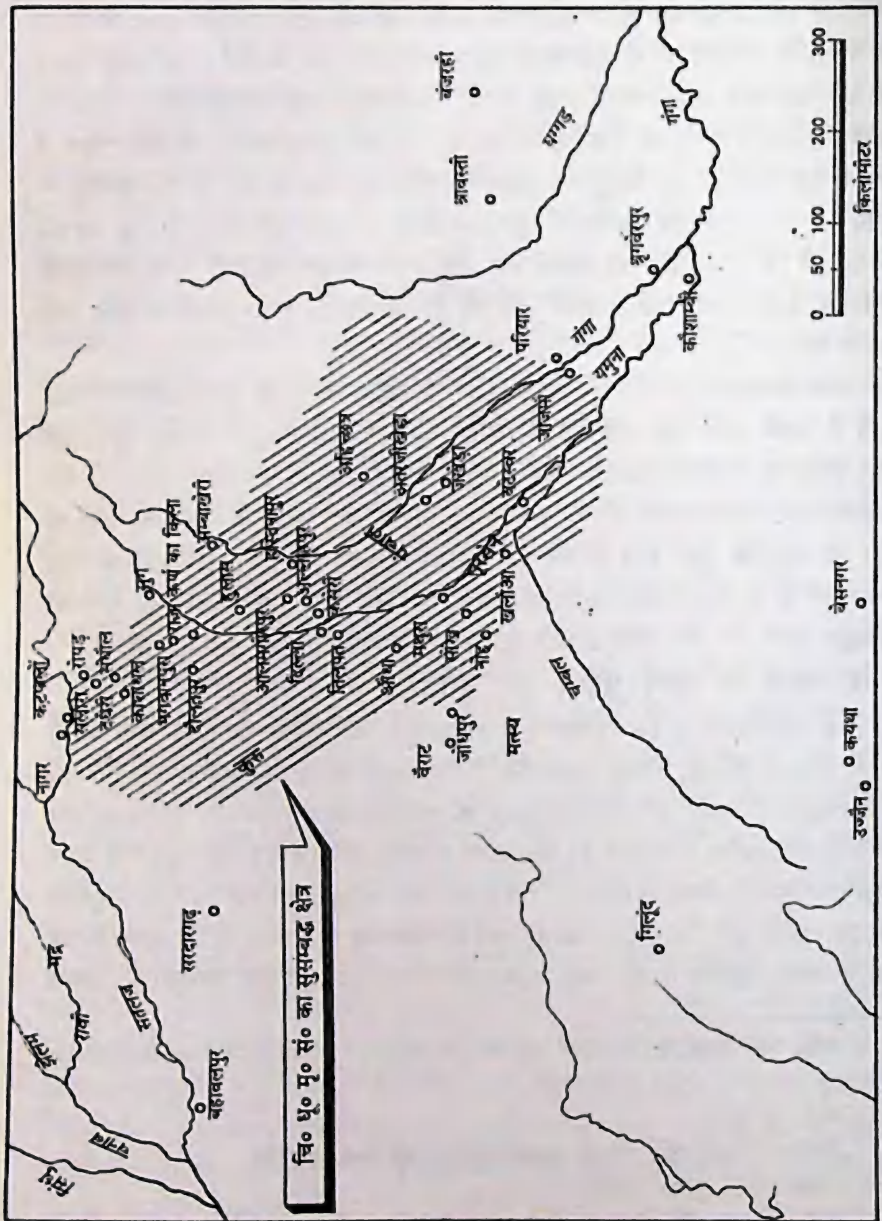

चि० धू० मू० सं० का सुसम्बद्ध क्षेत्र

है।[1] यह ठीक है कि इस संस्कृति के लोग चावल से और हाथी से परिचित थे पर इन दोनों का होना उस समय की याद दिलाता है जब इस इलाके में जंगल था, और यहां अधिक वर्षा होती थी। ऐसे भी हमें बराबर ध्यान रखना चाहिए कि बाहर से लोगों के आने पर स्थानीय संस्कृतिक तत्त्व बिल्कुल लुप्त नहीं हो जाते हैं। परन्तु वास्तविक महत्त्व का विषय है कि चित्रित धूसर मृद्भांड वाली स्तरों पर घोड़े के अवशेष, अग्निवेदियां और दाह कर्म के उदाहरण मिलते हैं। ऐसे साक्ष्य भगवानपुरा, दधेरी, नागर और कटपालन में मिलते हैं।[2]

मध्य गंगा के मैदान में आर्य प्रसार का तीसरा चरण पाया जाता है। यह काले स्लीपदार बरतन और उत्तरी काले पालिशदार बरतन की संस्कृतियों से परिलक्षित होता है। इस संस्कृति में शिल्प और अनाज के उत्पादन में लोहे के औजार का काफी इस्तेमाल होता था। उत्तर वैदिक जन पूरब की ओर चले, और उनके साथ-ही-साथ चित्रित धूसर मृद्भांड तथा काले स्लीपदार बरतन आये। उत्तरी काले पालिशदार बरतन का जन्म चित्रित धूसर मृद्भांड और काले स्लीपदार बरतन से हुआ है।[3] ये तीनों प्रकर के मृद्भांड हड़प्पाई परंपरा से बिल्कुल भिन्न हैं।

---

1. आर॰ एस॰ शर्मा, मॅटेरियल कल्चर एंड सोशल फॉर्मेशन इन एन्शॅन्ट इंडिया, अध्याय-4.
2. जे॰ पी॰ जोशी, एक्सकवेशनस एट भगवानुपरा, 1975-76, ए॰ एस॰ आई॰, गवन्मेन्ट ऑव इंडिया, नयी दिल्ली, 1993.
3. शर्मा, दि स्टेट एंड वर्ण फॉर्मेशन इन दि मिड गंगा प्लेन्सः एन एथ्नोआर्किअलॉजिकल व्यू, मनोहर, दिल्ली, 1996.

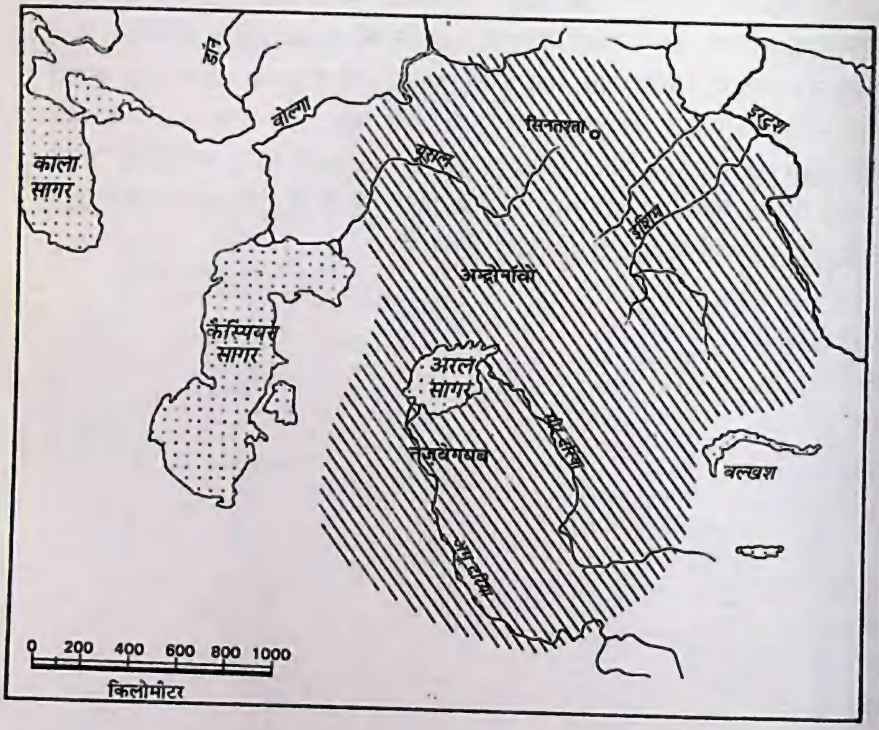
डॉन
वोल्गा
काला सागर
सिनतश्ता
यूराल
इरटुश
इशिम
अन्द्रोनॉवो
कैस्पियन सागर
अरल सागर
तजवेगयव
वल्खश
0 200 400 600 800 1000
किलोमीटर

4. मध्य एशिया से देशान्तरण

पिछले अध्याय में आर्य संस्कृति के जिन पुरातात्त्विक अवशेषों का वर्णन किया गया है वे उत्तर-पश्चिम भारत में कब, क्यों और कहां से आये, इसका विश्लेषण करना आवश्यक है। इस अध्याय में यह दिखलाया गया है कि आर्य संस्कृति के प्रमुख पुरातात्त्विक लक्षण मध्य एशिया और विशेषत: इसके दक्षिणी भाग में 2000 ई॰ पू॰ के बाद अनेक स्थान पर मिले हैं।

हिंद-आर्य और मध्य एशिया की संस्कृतियां

मध्य एशिया हिंद-यूरोपीयों का उद्गम स्थान हो या नहीं हो, किंतु इसमें संदेह नहीं कि इसमें हिंद-ईरानी रहते थे। दूसरी सहस्त्राब्दि ई॰ पू॰ की कांस्ययुगीन स्टेप संस्कृति को अन्द्रोनॉवो संस्कृति की संज्ञा दी गई है। इसका नामकरण दक्षिण साइबेरिया में येनीसी नदी के मध्य क्षेत्र में स्थित अन्द्रोनॉवो गांव पर रखा गया है क्योंकि वहीं इस संस्कृति का प्रारंभिक उत्खनन स्थल पाया गया था।[1] इस संस्कृति में हिंद-आर्य ज़नों की प्रमुख विशेषताएं पायी जाती हैं। इस संस्कृति से कई सम्बद्ध संस्कृतियों का बोध होता है जो लगभग 3000 कि॰ मी॰ में फैली हुई थी। अन्द्रोनॉवो संस्कृति का फैलाव पश्चिम से पूरब में दक्षिण यूराल से लेकर पश्चिमी साईबेरिया तक था और उत्तर से दक्षिण उत्तरी मध्य एशिया से लेकर दक्षिणी मध्य एशिया के ताजिकिस्तान क्षेत्र तक था। कई ऐसे रूसी पुरातत्त्वविद् हैं जिनका कहना है कि ऋग्वेद और ज़ेंद अवेस्ता में जिस भौतिक संस्कृति का वर्णन है उसकी प्रतिरूप अन्द्रोनॉवो संस्कृति में मिलता है।[2] पश्चिमी कज़ाखस्तान से लेकर येनीसी नदी के मध्य तक इस संस्कृति के जो अवशेष मिलते हैं उनसे पता चलता है कि लोग भेड़, बकरी, गाय और घोड़ा पालते थे। उनके पशुओं में घोड़े की संख्या लगभग एक तिहाई है। दक्षिणी यूराल में सिनतश्ता नदी के किनारे एक कब्रिस्तान मिला है जिससे पता चलता है कि इस क्षेत्र में लोग घोड़े वाले युद्ध रथ का प्रयोग करते थे और

---

1. अलेकजैंडर मोंगैत, आर्किअलॉजी इन दि यू॰ एस॰ एस॰ आर॰, फॉरेन लैंग्वेज पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को, 1959, पृ॰ 144-46.
2. रेनफ्रू, आर्किअलॉजि एंड लैंग्वेज: दि पज़्ल ऑव इंडो-यूरोपीयन ऑरिजिन्स, पेनगुइन, हरमण्ड्सवर्थ, 1989.

इनके पहियों में दस-दस आरे होते थे। घोड़े के गालों को भी ढकने की प्रथा थी। इसमें संदेह नहीं कि रथ चलानेवालों का वर्ग समाज में प्रमुख था। सामान्यत: लोग कृषि और पशुपालन से अपनी जीविका चलाते थे। उनमें सोमपान की प्रथा प्रचलित थी और वे अपने बरतनों पर स्वस्तिक चिह्न लगाते थे। इसलिए उन्हें हिंद-ईरानी कबीलों का हिस्सा बतलाया गया है और उनका समय 1700 ई॰ पू॰ के आस-पास रखा गया है।[1] मध्य एशिया के पूरबी क्षेत्र में ओब और येनीसी नदियों के किनारे मुर्दे गाड़ने और जलाने की दोनों प्रथाएं प्रचलित थीं। उत्तरी और पूरबी कज़ख़स्तान में दाह कर्म चलता रहता था पर यूराल क्षेत्र और मध्य कज़ख़स्तान में यह जोर से प्रचलित था।[2]

यद्यपि अन्द्रोनॉवो संस्कृति के लोग खेती करते थे, पर उनकी अर्थव्यवस्था में पशुपालन का महत्त्व कहीं अधिक था। वे चतुर्भुजाकार तहखाने में रहते थे जिनकी छत को खंभों पर खड़ा किया जाता था। उनके एक आवास स्थान के निकट यज्ञ स्थल मिला है जहां जमीन के छेदों में रखे मिट्टी के बरतन मिले हैं। कुछ छेदों में पालतू जानवरों की जमी हुई हड्डियां मिली हैं और उनके साथ गेहूं के डंठल और बीज मिले हैं।[3] इससे पता चलता है कि पशुओं को जलाकर देवताओं पर चढ़ाया जाता था।

दक्षिणी मध्य एशिया के किसानों के बीच शहरी जीवन के भी कुछ तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। किंतु उत्तरी मध्य एशिया मुख्यत: घास वाला क्षेत्र था जहां पशुपालक रहते थे। सूखे और अर्द्ध-मरूभूमि जैसे घास वाले क्षेत्र में पशुपालक जब-तब अपना इलाका छोड़कर दूसरे इलाके में चले जाते थे। वे वहां से दक्षिण ताजिकिस्तान के पश्चिमी हिस्से में चले जाते थे जहां के जलवायु में थोड़ी सी गर्मी और नमी थी। अन्तत: उनमें से अधिक पशुपालक इसी इलाके में बस गये। रूसी पुरातत्त्वविद् मैसन का कहना है कि घास वाले इलाके के कांस्य युगीन कबीले निश्चित रूप से अमू दरिया के बीचले भाग तक पहुंच गये थे।[4] अमरीकी

1. जे॰ आई॰ इ॰ एस॰, 7, संख्या 3 और 4 में वी॰ एफ॰ गेनिंग, "दि सिमेटरी एट सिनतश्ता एंड दि अर्ली इंडो-ईरानियन पीपॅलस", पृ॰ 29.
2. जॉर्ज इरडोसी, सं॰, दि इंडो-आर्यन्स् ऑव एन्शॅन्ट साउथ एशिया, नयी दिल्ली, 1997 में अएस्को परपोला, "दि प्रॉबलम ऑव दि आर्यन्स् एंड दि सोम: टेक्सटयूअॅल-लिन्ग्विसटिक एंड आर्किअलॉजिकल एविडेंस," पृ॰ 357.
3. मोंगैत, उद्धृत पुस्तक, पृ॰ 146.
4. दानी एंड मैसन, सं॰, हिस्ट्री ऑव सिविलाइज़ेशन इन सेंट्रल एशिया, जिल्द-I, पेरिस, 1992 मे मैसन, "दि डिकलाइन ऑव दि ब्रॉन्ज एज सिविलाइज़ेशन एंड मुवमेंटस ऑव दि ट्राइब्स", पृ॰ 347-56.

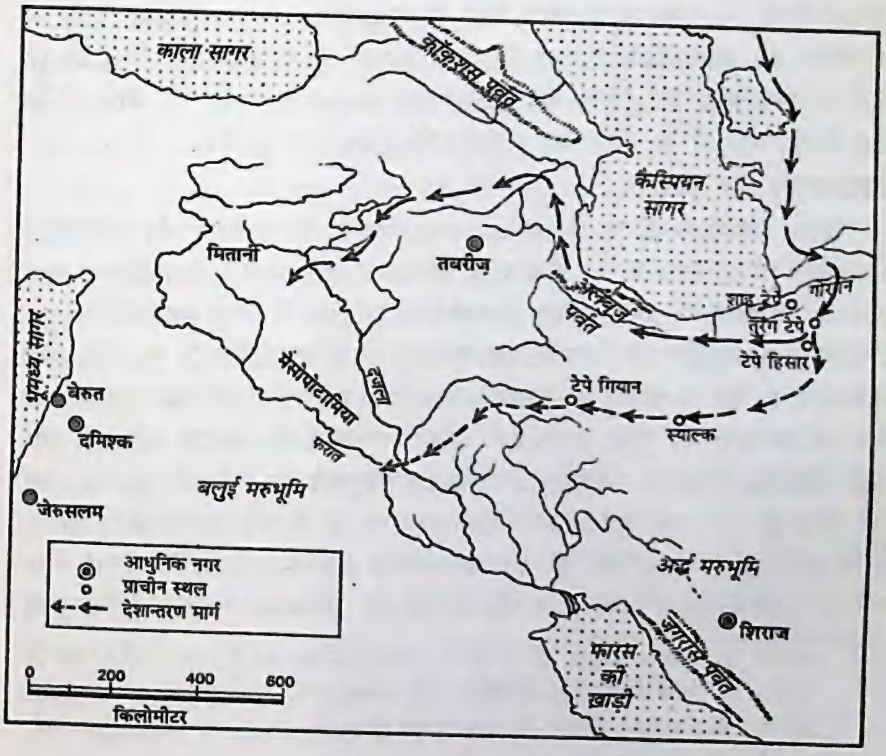
काला सागर
काकेशस पर्वत
कैस्पियन सागर
मितानी
तबरीज़
अलबुर्ज़ पर्वत
शाह टेपे
गोरान
तेपे हिसार
टेपे गियान
स्यालक
मेसोपोटामिया
दजला
फ़रात
भूमध्य सागर
बेरुत
दमिश्क
जेरुसलम
बलुई मरुभूमि
अर्द्ध मरुभूमि
शिराज
ज़ाग्रोस पर्वत
फ़ारस की खाड़ी
आधुनिक नगर
प्राचीन स्थल
देशान्तरण मार्ग
0 200 400 600
किलोमीटर

पुरातत्त्वविद् फेयरसर्विस का निष्कर्ष है कि जो पशुचारी लोग भारतीय सीमा क्षेत्र में चलकर आये वे बैक्ट्रिया- मर्जियाना पुरातात्त्विक क्षेत्र के निवासी मालूम पड़ते हैं। इसी क्षेत्र में अर्थात् उत्तरी अफगानिस्तान और दक्षिण तुर्कमेनिस्तान में फेयरसर्विस ऋग्वैदिक संस्कृति के उद्गम को खोजते हैं।[1] 1900 से 1500 ई पू० कालीन इस क्षेत्र में केवल घोड़ और आरे वाले पहिए ही नहीं मिलते हैं बल्कि सोमपान, अग्नि पूजा और दाह कर्म की प्रथाएं भी मिलती हैं।[2] यहां से लोग दक्षिण-पूरब ईरान, दक्षिण अफगानिस्तान, गंधार और क्वेटा के क्षेत्रो में गये। पुरातत्त्वविद् हिवर्ट, जो स्थानीय सांस्कृतिक परंपरा की निरंतरता के सिद्धांत के बड़े समर्थक हैं, बड़े पैमाने पर आबादियो के स्थानान्तरण पर संदेह करते हैं किंतु बैक्ट्रिया और मार्जियाना दोनों में जो बरतन और अन्य अवशेष मिले हैं, उनके आधार पर वे बतलाते हैं कि लोग इन क्षेत्रों से सिंधु घाटी के सीमांत क्षेत्रों में गये। हिचकते हुए वे यह भी कहते हैं कि हिंद-ईरानी भाषाओं के प्रसार का संबंध इसी स्थानान्तरण से है।[3]

देशान्तरण के कारण

द्वितीय सहस्त्राब्दि ई० पू० में सिमेटरी-एच, पिराक, गोमल घाटी और स्वात घाटी में संस्कृति के जो तत्त्व मिलते हैं वे मध्य एशिया से आने वाले आप्रवासियों के साथ आये थे। जलवायु के इतिहासविद् खजानोव के अनुसार "दूसरी सहस्त्राब्दि ई० पू० में जलवायु शुष्क हो गया था और यह शुष्कता दूसरी सहस्त्राब्दि ई० पू० और प्रथम सहस्त्राब्दि ई० पू० के प्रारंभ के समय चरम सीमा पर पहुंच गयी थी। पुरातात्त्विक तथ्य इस स्थापना की पुष्टि करते हैं।"[4] ऐसा लगता है कि कड़ाके की सर्दी और सूखी आबहवा के कारण खेतिहर लोग प्रधानतः पशुचारी बन गये, और उन्हें गर्म एवं वर्षा वाले क्षेत्र में जाना पड़ा। द्वितीय सहस्त्राब्दि ई० पू० में तथा प्रथम सहस्त्राब्दि ई० पू० के प्रारंभ में मध्य एशिया के नीम खानाबदोश लोग एक जगह से दूसरी जगह जाने लगे, इसके पुरातात्त्विक साक्ष्य मिलते हैं।[5] यह भी बतलाया जाता है कि दूसरी

---

1. इरडोसी, सं०, उद्धृत पुस्तक, में वाल्टर ए० फेयरसर्विस जूनियर, "सेन्ट्रल एशिया एंड दि ऋग्वेद: दि आर्किअलॉजिकल एविडेंस", पृ० 206-12.
2. इरडोसी, सं० उद्धृत पुस्तक, में परपोला का लेख, पृ० 366-374; आर० एस० शर्मा, लुक्इंग फॉर आर्यन्स, पृ० 49.
3. इरडोसी, सं० उद्धृत पुस्तक, में फ्रेडरिक टी हिवर्ट, "साउथ एशिया फ्रॉम ए सेंट्रल एशियन पर्सपैक्टिव", पृ० 200-02.
4. एम० के० धवलीकर, कल्चरल इम्पिअरअलिज्म(इंडस सिविलाइज़ेशन इन वेस्टर्न इंडिया), बुक्स एंड बुक्स, नयी दिल्ली, 1995, पृ० 209 में उद्धृत ए० एम० खजानोव का विचार।
5. दानी एंड मैंसन, सं०, उद्धृत पुस्तक, अध्याय 14 और 20.

सहस्राब्दि ई॰ पू॰ में शहरी शासकों और पशुचारियों के बीच एक प्रकार का सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष हुआ जिसके कारण पशुचारी अपने गोरूओं को लेकर चलते बने। यह विचार अमरिकी पुरातत्त्वविद् फेयरसर्विस का है जिनके अनुसार ऋग्वैदिक जन कांस्ययुग में मध्य एशिया से सम्बद्ध रहे हैं।[1]

आद्य हिंद-आर्यों के मध्यवर्ती आवास स्थल और उनके आगमन मार्ग

वैदिक भाषाभाषियों ने मध्य एशिया से भारत आने में किन मार्गों को अपनाया, यह कहना कठिन है। आम तौर पर लोग मानते हैं कि वैदिक भाषाभाषी भारतीय और अवेस्ता भाषाभाषी ईरानी एक दूसरे से अलग होने के पहले ईरान में बहुत दिनों तक साथ रहे। किंतु ईरान से हिंद-आर्यों के आगमन की पुष्टि पुरातत्त्व से पक्की नहीं होती है। ईरानी और भारतीयों के साथ रहने का साक्ष्य दूसरी सहस्राब्दि ई॰ पू॰ के प्रारंभ में ईरान के मध्य में नहीं बल्कि दक्षिणी तुर्कमेनिस्तान में मिलता है। यहां अग्नि पूजा और सोमपान की प्रथा पायी जाती है और ऐसा लगता है कि आद्य-भारतीय और आद्य-ईरानी इसी क्षेत्र में कुछ समय तक निवास करते रहे।

कांस्ययुगीन सभ्यता के पतन और जनजातियों की गतिविधि का विवेचन करते हुए मैसन ने बतलाया है कि तुर्कमेनिस्तान और ट्रांसऑक्सियाना (अमू दरिया का पार वाला क्षेत्र) के विपरीत दक्षिण-पूरब ईरान और दक्षिण अफगानिस्तान के स्थायी खेतिहरों ने नये क्षेत्रों में खेती नहीं फैलायी।[2] उनका कहना है कि "उत्तर पूरब ईरान के सम्बन्ध में, जहां विकसित कांस्ययुग में हिसार-टुरंग टेपे की उत्कृष्ट संस्कृति फली-फूली, कोई तथ्य नहीं मिलते हैं जिनसे पता चले कि दूसरी सहस्राब्दि ई॰ पू॰ में ऐसे केन्द्रों के उजड़ने के बाद समाज में क्या हुआ"?[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि मेसोपोटामिया और दक्षिणी मध्य एशिया पहुंचने के पहले आद्य-भारतीय और आद्य-ईरानी दोनों उत्तर मध्य एशिया में रहते थे। हरमट्टा के अनसुार आद्य-भारतीय भाषा आद्य-ईरानी भाषा से 3500 ई॰ पू॰ के लगभग अलग हुई। वे बतलाते हैं कि तीसरी सहस्राब्दि ई॰ पू॰ में आद्य-भारतीयों का एक दल कैस्पियन सागर के पूरबी तट पर चलकर दक्षिण की ओर आया और उसने उत्तर-पूरब ईरान में गोरगान घाटी को जीता जहां घोड़े के बहुत-से अस्थिकंकाल मिलते हैं। हरमट्टा ने लगभग 2300-2100 ई॰ पू॰ के अगेड के एक अभिलेख पर

---

1. इरडोसी, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में फेयरसर्विस का लेख, पृ॰ 210-11.
2. दानी एंड मैसन, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में मैसन का लेख, पृ॰ 352.
3. वही, पृ॰ 351-52.

हरिसेन और सोमसेन का नाम पढ़ा है जिससे पता चलता है कि ईरान के रास्ते से होकर आद्य-भारतीय मेसोपोटामिया पहुंच गये थे। अंततोगत्वा वे अगेड से और भी पश्चिम की ओर गये और मेसोपोटामिया में हुरी-जातीय समाज के भाग बन गये। इसी कारण से 16वीं सदी ई० पू० में कस्सी के अभिलेखों में तीन प्रमुख वैदिक देवताओं के नाम मिलते हैं।

1954 में फ्रांसीसी विद्वान आर० गिर्शमां ने बतलाया था कि 1500 ई०पू० के लगभग हिंद-यूरोपियों की पूरबी शाखा ने कैस्पियन सागर के पूरब वाले रास्ते को अपनाया और फिर सागर के दक्षिण की ओर घूमकर और कॉकसस पहाड़ पार कर वे फुरात नदी तक पहुंचे। वे हुरी समुदाय में बस गये और बाद में उन्होंने उत्तरी मेसोपोटामिया में मितानी राज्य की स्थापना की।[1] ऐसा लगता है कि मेसोपोटामिया जाने वाले लोग आद्य हिंद-आर्य थे जिनके देवताओं इन्द्र, वरूण, मित्र और नासत्य का उल्लेख चौदहवीं सदी ई०पू० के मितानी अभिलेख में है। अतएव गिर्शमां और हरमट्टा मेसोपोटामिया जाने वाले आद्य हिंद-आर्यों का करीब-करीब एक ही रास्ता बतलाते हैं।

ब्रिटिश भाषाविद् और संस्कृतज्ञ बरो के अनुसार आद्य-भारतीय 2000 ई० पू० के लगभग आद्य-ईरानियों से अलग हो गये। किंतु यदि अगेड के अभिलेख को ध्यान में रखा जाये तो इन दोनों का एक दूसरे से विच्छेद लगभग 2500 ई० पू० में हुआ होगा। हरमट्टा का विचार है कि अधिकांश आद्य-भारतीय मर्व और बैक्ट्रिया अर्थात् दक्षिण तुर्कमेनिस्तान और उत्तरी अफगानिस्तान होते हुए गंधार पहुंचे जहां उन्होंने गंधार कब्र संस्कृति की बुनियाद डाली।[2] 1954 में गिर्शमां ने भी हरमट्टा जैसा विचार प्रगट किया था। उनका कहना था कि पूरबी हिंद-यूरोपीय शाखा की अधिकांश जनजातियों ने अमु दरिया पार क्षेत्र और अमू दरिया को पार किया और वे कुछ समय तक बैक्ट्रिया में जाकर रूकी। बाद में उन्होंने हिंदूकुश पर्वत की घाटियों को पार कर उसी रास्ते को अपनाया जिसे बाद में भारत पर हमला करने वालों ने अपनाया था।[3] इस विचार की पुष्टि पुरातत्त्व से ठीक से होती है। पुरातत्त्व बतलाता है कि लगभग 1900-1500 ई० पू० के बीच आद्य-भारतीय दक्षिण

---

1. आर० गिर्शमां, ईरान-फ्रॉम दि अर्लीएस्ट टाइम्स टू दि इस्लामिक कंक्केस्ट, पेनगुइन, हरमण्ड्सवर्थ, 1954, पृ० 61.
2. दानी एंड मैसन, सं०, उद्धृत पुस्तक, में हरमट्टा, "दि इमअरजेन्स ऑव दि इंडो-ईरानियन्सः दि इंडो-ईरानियन लैंग्वेजेज," पृ० 371-75.
3. गिर्शमां, उद्धृत पुस्तक, पृ० 63.

तुर्कमेनिस्तान और उत्तर अफगानिस्तान में बने रहे और फिर वे वहां से गंधार गये। संभवतः उन्होंने उसी रास्ते को अपनाया जिसे बाद में सिकन्दर ने अपनाया। उल्लेखनीय है कि रेशम मार्ग के द्वारा दक्षिण तुर्कमेनिस्तान में अवस्थित मर्व उत्तर अफगानिस्तान में अवस्थित वल्ख से संबद्ध है, वहां से यह रास्ता काबुल को जाता है और फिर काबुल से पेशावर को। एक बार जब हिंद-आर्य इस क्षेत्र में आ गये तो धीरे-धीरे उन्होंने अपनी भाषा का प्रसार बड़े क्षेत्र में किया और अपनी उपस्थिति को जोर से जताया। किंतु जो आर्यभाषी अनातोलिया और मेसोपोटामिया गये वे अपनी भाषा को अधिक दिनों तक बरकरार नहीं रख सके।

देशान्तरण संबंधी ग्रंथीय उल्लेख

यद्यपि भारत में आर्यों के आगमन के प्रत्यक्ष उल्लेखों का अभाव है तथापि बहुत-से अप्रत्यक्ष उल्लेखों और आख्यानों से उनका स्थानान्तरण सिद्ध होता है। आर्य संबंधी इन्हीं उल्लेखों और आख्यानों के कारण लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने यह सिद्धांत चलाया कि आर्यों का उद्गम भारत के बाहर हुआ। चूंकि आर्य पहाड़ पार कर आये इसलिए पहाड़ों को वैदिक देवताओं का वास स्थान माना गया है और ऋग्वेद में उनकी बारम्बार चर्चा की गयी है। हिमालय के पार मेरू नामक पहाड़ को महाभारत और पुराणों में देवों का सुखदायी निवास स्थान कहा गया है।[1] ऋग्वेद से स्पष्ट होता है कि मरूत देवों के पूजकों ने सरयू, सिंधु और इसकी चार सहायक नदियों को पार किया, और सिंधु के पूरब में प्रगट हुए। याद रहे कि यह सरयू नदी ज़ेंद अवेस्ता में उल्लिखित हरिरुद नदी है जो अफगानिस्तान में बहती है। ऋग्वेद के अनुसार मरूत देवों को न पहाड़ रोक पाते हैं और न नदियां, और उन देवों से कहा जाता है कि वे अपने पूजकों के हित में रसा, अनितभा, कुभा, क्रुमु, सिंधु और यहां तक कि अगाध जल वाले सरयू को भी पार करें।[2] इस वेद में यह भी लिखा है कि इन्द्र उशिज् जनों के लिये एक नदी के बाद दूसरी नदी पार करते हैं। ध्यातव्य है कि जर्मन वैदिक विद्वान गेल्डनर उशिज् जनों को प्राचीन आर्य परिवार का बतलाते हैं। उनका कहना है कि ऋग्वेद में इस प्रकार के उल्लेख का अर्थ है कि आर्य लोग पंचनद प्रदेश होकर आगे

---

1. इ॰ ए॰ ग्रेन्टोवस्की एंड जी॰ एम॰ बोन्गार्ड-लेविन, दि ऑरिजिन ऑव आर्यन्स् फ्रॉम सीथिया टू इंडिया, अरनोल्ड-हायमन, नयी दिल्ली, 1940, पृ॰ 46, 66.
2. ऋग्वेद, V. 53.7 और 9.

बढ़ते हैं।[1] महाभारत में एक आख्यान है जिससे पता चलता है कि व्यास के पुत्र शुक हवा में उड़ सकते थे पर वे पैदल चलकर पृथ्वी पर आये। उन्होंने बड़ी-बड़ी नदियों एवं झीलों को पार किया, पहाड़ों से होकर निकले, मेरू पर्वत भी पहुंचे, अनेक देशों को देखा और वे बड़े मुनि आर्यावर्त के देश में आये।[2] इस आख्यान से भी आर्यों के भारत आगमन का आभास मिलता है।

संस्कृत और प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रकांड पंडित हेमचन्द्र रायचौधरी ने अनेक वैदिक और पौराणिक उल्लेखों को प्रस्तुत किया है जिनसे पता चलता है कि यदु, तुर्वस, कुरु और उत्तरमद्र हिमालय के पार से भारत आये।[3] काव्य कथाओं में पुरूरवा अइल की चर्चा है जिन्हें वैदिक ग्रंथों के प्राचीनतम राजाओं में रखा गया है। कहा गया है कि वे एक ऐसे शासक के पुत्र थे जो अमु दरिया की घाटी में अवस्थित बहली अर्थात् बैक्ट्रिया से मध्य भारत में आये।[4] जैसा आगे बतलाया जायेगा कि उर्वशी से पुरूरवा के दो पुत्र हुए। एक को कुरू-पंचालों और काशी-विदेहों का पूर्वज बतलाया गया है और दूसरे को गंधारों, पार्शवों और अरट्टों का पूर्वज कहा गया है। वाल्हिक शब्द प्रतिपिय वाल्हिक के नाम में पाया जाता है जो शतपथ ब्राह्मण में कुरु राजा बतलाये गये हैं।[5] बैक्ट्रिया से जब कुछ लोग पंजाब आ गये तो इसे वाल्हिक कहा जाने लगा। ऐसा भी इतिवृत है कि कुरुलोग जो ऐल परिवार की प्रमुख शाखा थे, उत्तरकुरु नामक हिमालय पार क्षेत्र से आये।[6] शतपथ ब्राह्मण से पता चलता है कि उत्तर के लोगों की भाषा अर्थात् उत्तरकुरुओं की भाषा विशिष्ट रूप से शुद्ध मानी जाती थी।[7] कौषीतकि ब्राह्मण में भी उत्तर के विशुद्ध बोली की चर्चा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरकुरुओं का समाज जटिल नही था। शांति पर्व में लिखा है कि उत्तरकुरुओं के देश में विवाह की संस्था नहीं कायम हुई थी।

---

1. ऋग्वेद, I. 131.5; कार्ल फ्रेडरिक गेल्डनर, हरवर्ड ओरिएनटल सिअरीज, जिल्द 33, 1951, पृ॰ 185, पा॰ टि॰ 5 बी और 5 एफ जी।
2. ग्रेन्टोवस्की एंड बोन्गार्ड-लेविन, उद्धृत पुस्तक, पृ॰ 70.
3. रायचौधुरी, पलिटइकल हिस्ट्री ऑव एन्शॅन्ट इंडिया, पृ॰ 23-24, 140, 124-225.
4. वहीं, पृ॰ 23, पा॰ टि॰ 17 सहित।
5. वही, पृ॰ 23, पा॰ टि॰ 16 सहित।
6. वही, पृ॰ 140.
7. वैदिक इंडेक्स, I, पृ॰ 168.

दीघनिकाय में लिखा है कि उत्तरकुरुओं के देश में लोग न किसी समान को अपनी संपत्ति बतलाते हैं और न किसी औरत को अपनी दासी मानते हैं।[1] इन आख्यानों से पता चलता है कि समाज अत्यंत सरलावस्था में था। फिर हिमालय के पार रहने वाले उत्तरकुरुओं और उत्तरमद्रों में ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार वैराज्य शासन प्रचलित था।[2] कौटिल्य ने वैराज्य को अराजक शासन बतलाया है जिसमें लोग अपनी सम्पत्ति एवं परायी संपत्ति के बीच अन्तर नहीं करते हैं।[3] इसका अर्थ यह है कि इन कबीलों के बीच राज्य संरचना का विकास नहीं हुआ था और वे एक प्रकार के सरदार तंत्र में रहते थे। ऐसा लगता है कि उनके बीच राज्य और जटिल समाज का जन्म तब हुआ जब वे भारत के मैदान में बिल्कुल स्थायी कृषक के रूप में बस गये।

हरवर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत के विद्वान वित्सेल ने ऋग्वैदिक इतिहास के हाल के अध्ययन के आधार पर स्थानान्तरण का विश्वासोत्पादक प्रमाण प्रस्तुत किया है। ऋग्वेद में पाये गये भौगोलिक वर्णनों के विश्लेषण के आधार पर उन्होंने बतलाया है कि दूसरे मण्डल का संबंध स्पष्टत: अफगानिस्तान और सिंधु नदी के पश्चिमी क्षेत्र से है जबकि मण्डल चार, पांच, छ: और आठ या तो सिंधु के पश्चिमी क्षेत्र पर केंद्रित हैं या इस पर पर्याप्त ध्यान देते हैं।[4] उनका निष्कर्ष है कि अफगानिस्तान के पहाड़ी देश मे यदु-तुर्वस और अनु-द्रुह्यु पहले रहते थे। उन्हें वे आर्यों का एक प्रकार से पहला दल मानते हैं। दूसरे दल में पुरू जन आये और तीसरे दल में उन्हीं की शाखा वाले भारत आये। जैमिनीय ब्राह्मण में भारत प्रवेश करने वाले भरतों और इक्ष्वाकुओं के सिंधु नदी पार करने की चर्चा है। वित्सेल लगभग 5वीं सदी ई० पू० में रचित बौधायन श्रौतसूत्र से एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं[5] जिसमें

---

1. आर० एस० शर्मा, एसपेक्ट्स ऑव पलिटइकल आइडिआज एंड इंस्टिट्यूशनस इन एन्शॅन्ट इंडिया, 1996, पृ० 50.
2. ऐतरेय ब्राह्मण, VIII. 14.
3. अर्थशास्त्र, VIII. 21.
4. इरडोसी, सं०, उद्धृत पुस्तक, में माइकेल वित्सेल, "ऋग्वैदिक हिस्ट्री: पोइट्स, चीफटेन्स एंड पॉलइटिज," पृ० 317; तुलना करें इंडियन हिस्टॉरिकल रिव्यू, XXI, संख्या 1-2, जुलाई 1994/ जनवरी 1995 में आर० एन० नन्दी, "आर्यन् सेट्लमेंन्टस एंड दि ऋग्वेद", पृ० 10.
5. प्राक् अयु प्रवव्राज तस्य एते कुरूपञ्चाला: काशीविदेहा एतद् आयवम् , प्रव्रजम् प्रत्यक् अमावसु: तस्य ऐते गंधारया: पार्शवा: अरट्टा: इति एतद् अमावसम्; दि बौद्धायन श्रौतसूत्र बिलोंगिंग टू दि तैतिरीय संहिता, सं०, डब्ल्यू० कलैंड, एशियटिक सोसाइटी, कलकत्ता, 1907, XVIII. 44.

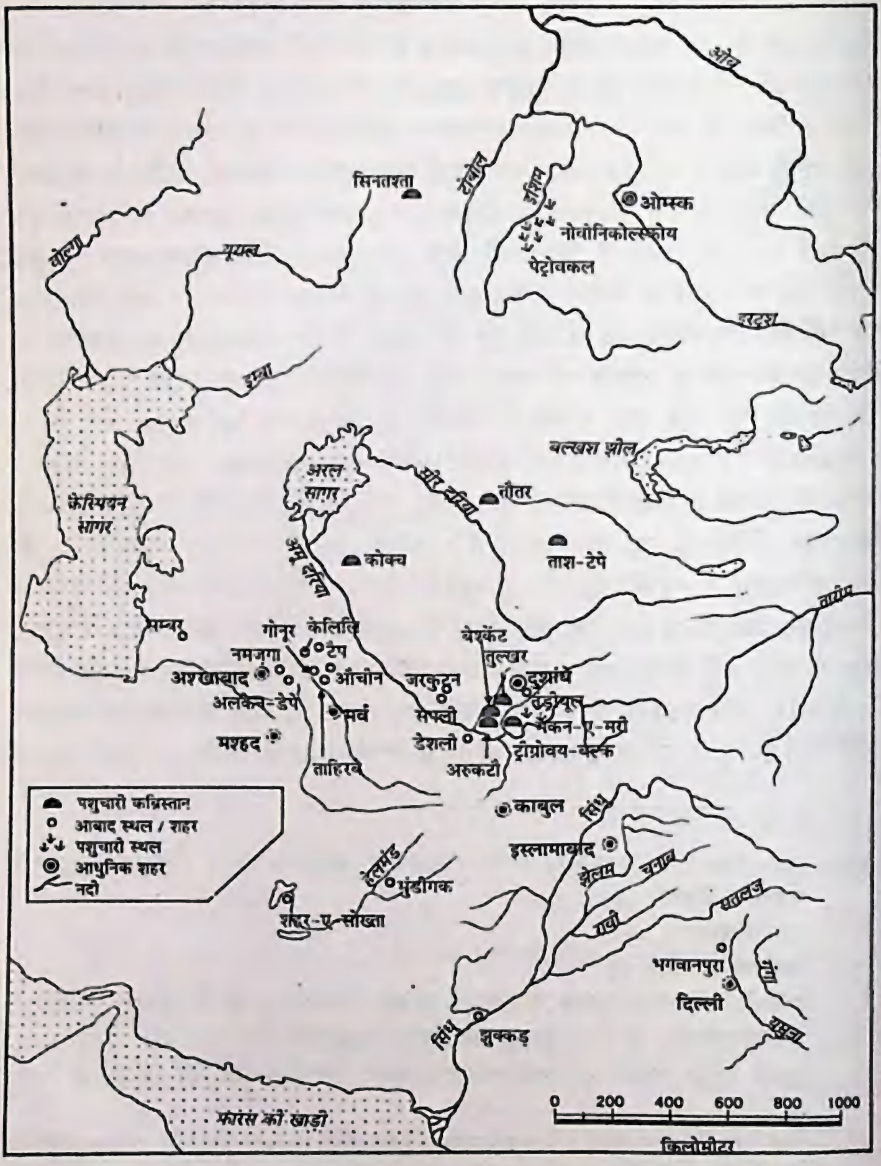
ओब
सिनतश्ता
टोबोल
इशिम
ओम्स्क
नोवोनिकोल्स्कोय
पेट्रोवकल
वोल्गा
यूराल
इरटश
इम्बा
बल्खश झील
अरल सागर
मीर दरिया
तौतर
कैस्पियन सागर
अमू दरिया
कोक्च
ताश-टेपे
तारीम
मम्बर
गोनूर
केलिलि
नमजगा
टेप
बेश्केंट
तुल्खर
अश्खाबाद
औचीन
जरकुटन
दुशांबे
अलकन-डेपे
मर्व
सपली
तड़ीयूल
मैकन-ए-मरी
मशहद
डेशली
ट्रीग्रोवय-बल्क
ताहिरबे
अरुकटी
पशुचारी कब्रिस्तान
आबाद स्थल / शहर
पशुचारी स्थल
आधुनिक शहर
नदी
काबुल
सिंध
इस्लामाबाद
झेलम
चनाब
हेलमंड
मुंडीगक
शहर-ए-सोख्ता
रावी
सतलज
भगवानपुरा
गंगा
दिल्ली
यमुना
सिंध
शुक्कड़
फारस की खाड़ी
0 200 400 600 800 1000
किलोमीटर

उनकी दृष्टि में उपमहादेश में बाहर से आगमन की स्पष्ट उक्ति है।[1] इस उद्धरण में ऐल, पुरूरवा और उर्वशी के बीच एक संवाद है जिसमें घोड़े, रथ के भाग, एक सौ घर और एक सौ घड़े घी की चर्चा है। उद्धरण के अंत में बतलाया गया है कि उनके अयु और अमावसु नामक दो पुत्र हुए जिन्हें उनकी माता ने बाहर जाने को कहा। अयु पूरब की और गये ओर उनके वंशज कुरू-पांचाल और काशी-विदेह हुए। इन्हें आयव बंधुओं में रखा जाता है। अमावसु पश्चिम में ही रूक गये। उनके वंशज गंधार, पार्शव और अरट्ट हैं। इन्हें अमावसव बंधुओं में रखा जाता है।

वित्सेल ने प्राचीनतम ऋग्वैदिक कबीलों का अफगानिस्तान में जो वास स्थान निर्धारित किया है वह पुरातत्त्व की दृष्टि से दक्षिणी तुर्कमेनिस्तान और उत्तरी अफगानिस्तान में पड़ता है। 1500 ई० पू० के लगभग मार्जियाना यानि दक्षिणी तुर्कमेनिस्तान के ओएसिस में पालतू घोड़े, कमानीदार पहिए वाले रथ के नमूने, आंशिक दाह कर्म के अवशेष और स्वस्तिक के प्रतीक मिलते हैं।[2] किंतु इस क्षेत्र में आद्य हिंद-आर्य 1900 ई० पू० के लगभग प्रगट हुए।[3] पुरातत्त्वविदों का सामान्यत: यह विचार है कि इन पशुचारियों ने इस क्षेत्र से भारतीय उपमहादेश की सीमाओं के लिये प्रस्थान किया।

आर्य संस्कृति का उद्गम और विकास

आद्य हिंद-आर्यों का उद्गम कहां हुआ, यह कहना कठिन है। यूक्रेन हिंद-यूरोपियों का उद्गम स्थान माना गया है क्योंकि वहां सेदेनी स्टॉग नामक स्थल पर 4500-3500 ई० पू० में उनकी संस्कृति के अवशेष पाये जाते हैं। वहां से हटकर वे दक्षिण वोल्गा नदी पर अवस्थित यामन्या गये जिसका समय 3500-2500 ई० पू० है। कैसे और कब हिंद-यूरोपियों ने आद्य हिंद-ईरानी और आद्य हिंद-आर्य संस्कृतियों के ठेठ तत्त्वों को अपनाया, यह बतलाना कठिन है। किंतु इसमें संदेह नहीं है कि भारतीय उपमहादेश में आने के पहले आद्य हिंद-आर्य दो क्षेत्रों में अवश्य रहे। एक था सिनतश्ता क्षेत्र जो कज़ाखस्तान के पश्चिम दक्षिण यूराल में पड़ता था, और दूसरा क्षेत्र पड़ता था दक्षिणी तुर्कमेनिस्तान और उत्तरी अफगानिस्तान में। संभवत: दूसरे क्षेत्र में वे कुछ बाद में आये। ऐसा लगता है कि जब वे सिनतश्ता क्षेत्र में थे तो वहां आद्य हिंद-आर्य और आद्य हिंद-ईरानी दोनों साथ रहते थे।

---

1. इरडोसी, सं०, उद्धृत पुस्तक, में वित्सेल का लेख, पृ० 339-40.
2. दानी एंड मैसन, सं०, उद्धृत पुस्तक, में मैसन, "दि डिकलाइन ऑव दि ब्रॉन्ज एज सिविलाइज़ेशन एंड मुवमेंटस ऑव दि ट्राइब्स," पृ० 351.
3. इरडोसी, सं० उद्धृत पुस्तक, में परपोला का लेख, पृ० 374.

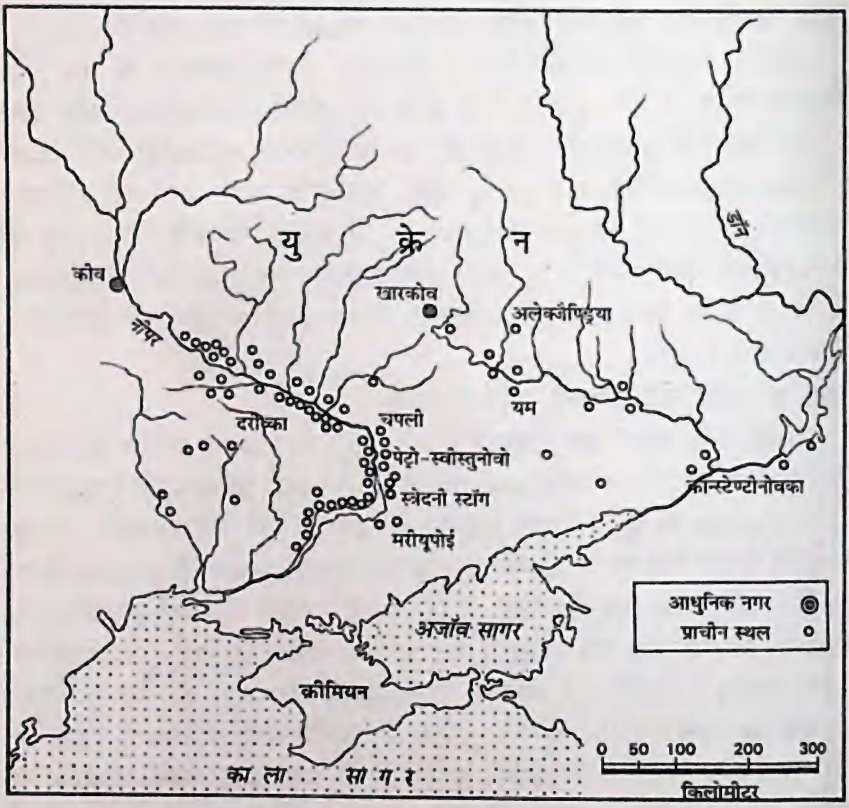
यु क्रे न
कीव
खारकोव
अलेक्जैण्ड्रिया
यम
दरोश्का
चपली
पेट्रो-स्वोस्तुनोवो
स्त्रेदनी स्टॉग
मरीयूपोई
कान्स्टेण्टीनोवका
आधुनिक नगर
प्राचीन स्थल
अजॉव सागर
क्रीमियन
का ला सा ग र
0 50 100 200 300
किलोमीटर

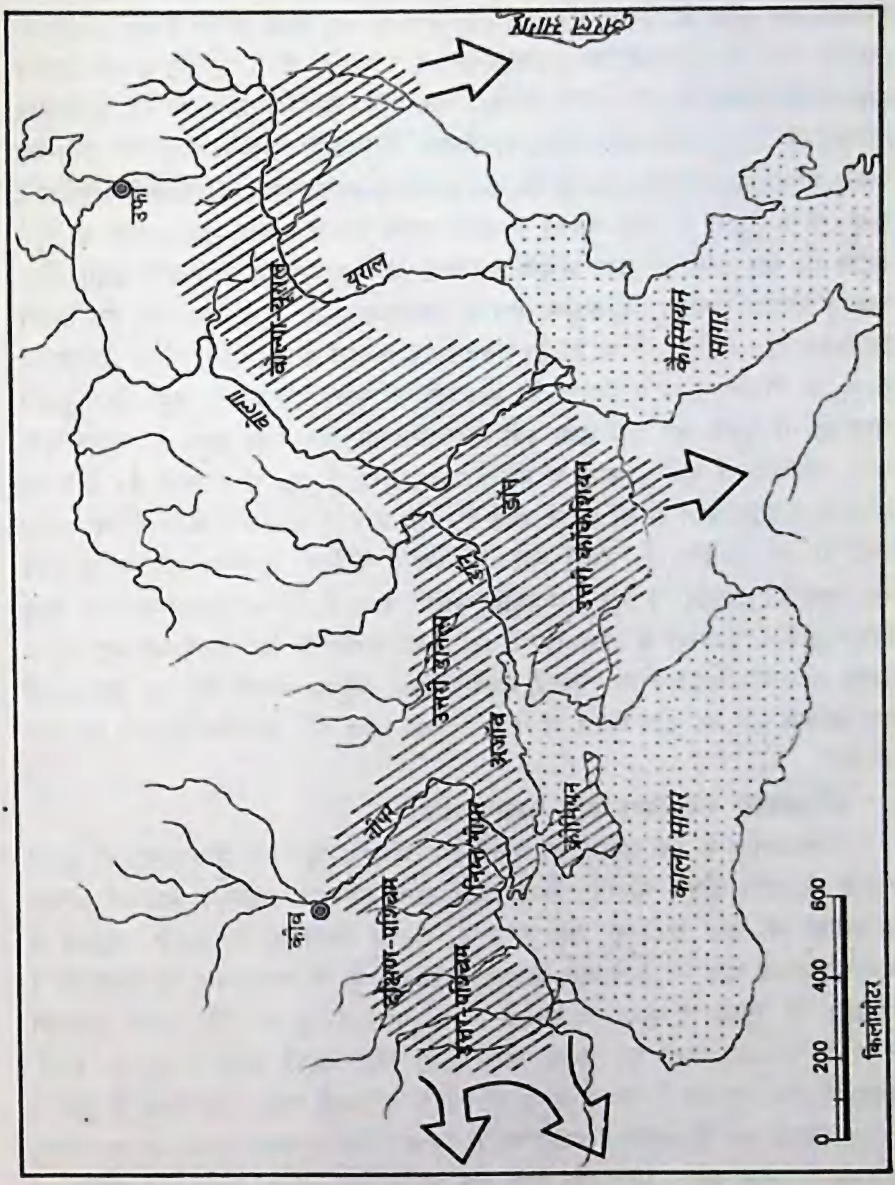
उफा
यूराल
वोल्गा-यूराल
वोल्गा
कैस्पियन सागर
डॉन
उत्तरी कॉकेशियन
डॉन
उत्तरी डोनेत्स
अजाव
नीपर
क्रीमियन
काला सागर
कीव
दक्षिण-पश्चिम
निम्न नीपर
उत्तर-पश्चिम
0
200
400
600
किलोमीटर

सिनतश्ता का दक्षिणी मध्य एशिया से क्या सम्बद्ध था, इसके विषय में और भी पुरातात्त्विक खोज की आवश्यकता है। किंतु इतना तो स्पष्ट है कि 1500 ई॰ पू॰ के लगभग जब उन्होंने भारतीय उपमहादेश की सीमाओं में प्रवेश किया तब उनकी सभ्यता में आर्य संस्कृति के सारे तत्त्व आ गये थे। उनकी भाषा के प्राचीनतम अभिलेखीय नमूने पश्चिम एशिया में मिलते हैं, यद्यपि उनकी भाषा के जन्म का समय पांचवीं सहस्त्राब्दि ई॰ पू॰ या उससे पहले माना जाता है। पांचवीं सहस्त्राब्दि ई॰पू॰ में वे यूक्रेन में घोड़े पालते थे और अपने घर का कुछ भाग जमीन के नीचे रखते थे। दाह कर्म की प्रथा संभवत: उन्होंने कज़रवस्तान से अपनायी। आरा वाला चक्का उन्होंने संभवत: कॉकसस क्षेत्र में अपनाया और उनके युद्ध रथ का महत्त्व सिनतश्ता क्षेत्र में दिखायी पड़ता है। पुरुषप्रधान समाज के पुरावशेष चौथी सहस्त्राब्दि ई॰ पू॰ में दक्षिणी रूस में मिलते हैं, और बाद में मध्य एशिया के बहुत से पशुचारी कब्रगाहों में पुरूष को दायें तथा स्त्री को बायें की ओर रखा जाता है। अग्नि पूजा चूल्हे के रूप में दक्षिण रूस में चौथी सहस्त्राब्दि ई॰ पू॰ में मिलती है। ये चूल्हे दक्षिणी ताजिकिस्तान में भी चलते रहते हैं, और बाद में उनका विकास वैदिक अग्नि वेदी के रूप में होता है। उत्तरी भारत के मैदान में हिंद-आर्य हर तरह से खेतिहर बन जाते हैं। ऋग्वेद में ऐसे-ऐसे कृषि संबंधी शब्द हैं जिनके सजातीय शब्द अन्य हिंद-यूरोपीय भाषाओं में नहीं मिलते हैं। ऐसा लगता है कि स्वस्तिक का प्रतीक एलम और बलूचिस्तान से चलकर मध्य एशिया पहुंचा। नस्ली तौर पर हिंद-आर्यों का मिश्रित दल था और भारत में वे एक नयी भाषा और मिश्रित संस्कृति के साथ आये।

वैदिकोत्तर आक्रमण और स्थानांतरण

उल्लेखनीय है कि वैदिकोत्तर शताब्दियों में हिंद-यूरोपीय भाषाभाषी की पूरबी शाखा के लोग खैबर, बोलन, गोमल और अन्य दर्रों को पारकर आक्रांता अथवा आप्रवासी के रूप में आते रहे। 517 ई॰ पू॰ में ईरान के हरवामनी शासकों ने उत्तर-पश्चिम भाग पर अधिकार जमाया। 326 ई॰ पू॰ में मकदूनिया के यूनानियों ने सिकंदर के नेतृत्व में भारत पर हमला किया। 205 ई॰ पू॰ में बैक्ट्रिया के यूनानियों ने उत्तर-पश्चिम भारत पर चढ़ाई की। दूसरी ओर पहली सदी ई॰ पू॰ में शकों, पह्लवों और कुषाणों ने भारत पर अपने हमले को जारी रखा। 5वीं सदी में हूणों ने हमला किया। इन ऐतिहासिक उदाहरणों से स्पष्ट है कि लगभग 1000 वर्ष तक मध्य एशिया से लोग भारत आते रहे। यदि इस प्रकार की प्रक्रिया वैदिकोत्तर सदियों में चलती रही, तो क्या वैदिक काल में इसका चलना असंभव था? पर यह सोचना गलत होगा कि केवल मध्य एशिया से ही लोग भारत आते थे और यहां के लोग

वहां नहीं जाते थे। हड़प्पाइयों ने अपना उपनिवेश अफगानिस्तान में स्थापित किया था, और अलतीन-टेपे के अनेक बरतनों और धातु के सामानों से पता चलता है कि उनका प्रभाव तुर्कमेनिस्तान पर भी पड़ा था।[1] उत्तर भारत में हिंद-आर्य भाषाभाषी के प्रसार के पश्चात् बौद्ध धर्मप्रचारक अफगानिस्तान और मध्य एशिया गये और बौद्ध धर्म के प्रभाव के प्रमाण वहां अभी भी मिलते हैं। ऐसा लगता है कि भाषा की समानता के कारण वे इन क्षेत्रों में अपना धर्म फैलाने में सफल हुए।

1. दानी एंड मैसन, सं॰, उद्धृत पुस्तक, में मैसन, "दि ब्रॉन्ज एज इन खोरासान एंड ट्रांसऑक्सियाना", पृ॰ 242.

सारांश

शहरी चरण के अंत में हड़प्पाई संस्कृति का सम्पर्क मध्य एशिया की आर्य संस्कृति से रहा होगा। किंतु प्राचीन ग्रंथों के आधार पर जिस आर्य अथवा वैदिक संस्कृति का पुनर्निर्माण हुआ है उसे हड़प्पाई संस्कृति नहीं कहा जा सकता है। आर्य संस्कृति के अनेक तत्त्वों का पुरातात्त्विक अस्तित्व 2000-1500 ई॰ पू॰ में दक्षिण मध्य एशिया में पाया जाता है; केवल आर्य भाषा के प्राचीनतम अभिलेखीय नमूने 2300 ई॰ पू॰ के आस-पास पश्चिमी एशिया में मिलते हैं।

भारतीय उपमहादेश में प्रारंभिक वैदिक संस्कृति का पुरातात्त्विक प्रतिरूप स्वात एवं गोमल की घाटियों में तथा बलूचिस्तान के पिराक और पेरियानो घुंडाई क्षेत्रों में मिलता है। इन जगहों में जो पुरातात्त्विक संस्कृति मिलती है वह करीब-करीब उसी प्रकार की है जो दक्षिणी मध्य एशिया के वैक्ट्रिया-मार्जियाना में और दक्षिण ताजिकिस्तान में पायी गयी है।

संभव है कि उत्तरी भारत में बाहर से आने वाले लोगों ने स्थानीय संस्कृति की कुछ तत्त्वों को अपनाया। किंतु उनकी अपनी संस्कृति हड़प्पाई संस्कृति से मूलत: भिन्न थीं। चूंकि वह सीमांत प्रदेशों में पहले-पहल दिखाई पड़ती है इसलिए उससे बाहरी लोगों के आने का स्पष्ट संकेत मिलता है। ऋग्वेद में अनेक उल्लेख हैं जिनसे स्थानांतरण की पुष्टि होती है। इस प्राचीन ग्रंथ के कई मंडल या तो सिंधु नदी के पश्चिम वाले क्षेत्र को अपना केंद्र बनाते हैं या उस पर पर्याप्त ध्यान देते हैं। कुछ परवर्ती वैदिक ग्रंथ स्पष्ट रूप से पश्चिम से स्थानांतरण होने की चर्चा करते हैं। इसके अतिरिक्त आर्यावर्त, वाल्हिक, हिमवंत, मेरू, उत्तरकुरु और उत्तरमद्र के विषय में परवर्ती वैदिक तथा प्रारंभिक पालि ग्रंथों में और साथ-ही-साथ पुराणों तथा महाकाव्यों में भी अनेक ऐसे आख्यान और इतिवृत हैं जिनसे बाहर से स्थानान्तरण का समर्थन होता है।

हिंदूत्ववादियों और स्थानीय सांस्कृतिक परंपरा की निरंतरता के पश्चिमी पक्षधरों को यह विचार नहीं जंच सकता है कि हिंद-आर्य दक्षिण मध्य एशिया से भारत आये। हिंदूत्ववादी विचारधारा के क्या आशय होते हैं, इसे लोग भारत और

भारत के बाहर भी जानते हैं। किंतु सांस्कृतिक परंपरा की निरंतरता विचारणीय है। बहुत पहले कुछ पश्चिमी इतिहासकार और समाजशास्त्री भारत की अपरिवर्तनशीलता और गतिहीनता पर जोर देते थे। कुछ पश्चिमी पुरातत्त्वविद भारत में परिवर्तन की चर्चा तो करते थे लेकिन वे वाह्य घटकों को इसका का कारण बतलाते थे। अब उधर के कुछ पुरातत्त्वविदों ने उल्टा रास्ता पकड़ा है। वे भारत की संपर्कहीनता उछालते हैं जिसका यह आशय है कि भारत में नये जनसमुदायों को आकर्षित करने और फलस्वरूप नयी तकनीक अपनाने की क्षमता नहीं थी। उनमें एक पुरातत्त्वविद ठीक बतलाते हैं कि हड़प्पाई सभ्यता ऋग्वैदिक नहीं थी।[1] पर कई ऐसे हैं जिनको वैदिक संस्कृति के उद्गम में हड़प्पाई परंपरा की निरंतरता दिखायी पड़ती है और वे इस संस्कृति को परवर्तित अथवा नवीन संस्कृति नहीं मानते हैं। उनका यह रूख हमें आजकल जो सनातन धर्म का प्रचार हो रहा है उसकी याद दिलाता है। यदि प्राचीन काल का अध्ययन विशुद्ध स्थानीयतावादी दृष्टि से किया जाये तो इससे न तो पुरातत्त्व की प्रगति होगी और न इतिहास का ठीक से पुनर्निर्माण होगा। इस बात की आवश्यकता है कि प्रमुख और गौण परिवर्तनों के बीच ठीक से अन्तर किया जाये और इन परिवर्तनों को लाने में वाह्य तथा आंतरिक घटकों की भूमिका की पर्याप्त व्याख्या हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये पुरातत्त्व का अध्ययन प्राचीन ग्रंथों के सहारे करना पड़ेगा और प्राचीन गंथों का पुरातत्त्व के सहारे।

---

1. जॉनथन मार्क केनोयर, सं॰, फ्रॉम सुमेर टू मेलुहा कॉन्ट्रिब्यूशनस टू दि आर्किअलॉजि ऑव साउथ एंड ईस्ट एशिया, विसकॉनसिन आर्किअलॉजिकल रिपोर्ट, जिल्द 3, 1994 में इरडोसी, "दि मीनइंग ऑव ऋग्वैदिक पुर ऑन दि वैदिक लैंडस्केप", पृ॰ 224.

हिन्दी संदर्भ ग्रंथ

तिवारी, भोलानाथ, भाषा विज्ञान कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, संवत् 2030.

दीक्षित, शंकर बालकृष्ण, भारतीय ज्योतिष, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, 1963.

प्रसाद, कालिका, राजवल्लभ सहाय, एवं मुकुंदीलाल श्रीवास्तव, सं॰, वृहत् हिन्दीकोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस, संवत् 2013.

शर्मा, रामशरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990.

----------प्राचीन भारत में भौतक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990.

----------शूद्रों का प्राचीन इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1992.

----------आर्य संस्कृति की खोज, सारांश प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1995.

----------भारत के प्राचीन नगरों का पतन, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1996.

----------मध्य गांगेय क्षेत्र में राज्य की संरचना, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1998.

सांस्कृत्यायन, राहुल, मध्यएसिया का इतिहास, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, खण्ड-1, 1956; खण्ड 2, 1957.

------ ------ऋग्वेदिक आर्य, किताब महल, इलाहाबाद, 1957.

Bibliography

Andronovo, M.S. *Dravidian Languages*, "Nauka" Publishing House, Moscow, 1970.

The Brahui Language, "Nauka" Publishing House, Moscow, 1980.

Agrawal, D.P. and A. Ghosh ed. *Radiocarbon and Indian Archaeology*, Tata Institute of Fundamental Research, Bombay, 1973.

Agrawal, D.P. ' Metals (Technology)' in A. Ghosh ed. *An Encyclopaedia of Indian Archaeology*, Vol. I, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1989, pp. 324-25.

Aitareya Brahmana with commentary of Sayana. ed. T. Weber, Bonn,1879. Tr. Martin Hung, Bombay,1863.

Allchin, Bridget and Raymond Allchin *Origins of a Civilization, The Prehistory and early Archaeology of South Asia*, Viking, Penguin Books India (P) Ltd, New Delhi, 1997.

Anthony, David W. 'The "Kurgan Culture", Indo-European origins and the domestication of the horse : A reconsideration' in *Current Anthropology*, Vol.27, No.4, Aug. Oct. 1986,pp. 291-313.

Anthony, David W. and Bernard Wales Review of C. Renfrew's *Archaeology and Language : The puzzle of Indo-European Origins* in *Current Anthropology*, Vol.29, No. 31, June 1988, pp. 441-445.

Anthony, David W. 'Migration in archaeology : The baby and bathwater ' in *American Anthropologist*, 92, 4, pp. 895-914.

Askarov, A., V. Volkov and N. Ser-Odjav ' Pastoral and nomadic tribes at the beginning of the first millennium B. C. ' in A. H. Dani and V.M. Masson ed. *History of Civilizations of Central Asia*, Vol. I, UNESCO Publishing, Paris, 1992, pp. 459-72.

Banerji, A. 'Banawali' in A. Ghosh ed. *An Encyclopaedia of Indian Archaeology*, Vol. II, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1989, pp.45-46.

Bhan, Suraj 'The Sequence and Spread of Prehistoric Cultures in the upper Saraswati Basin' in D.P. Agrawal and A. Ghosh ed. *Radiocarbon and Indian Archaeology*, Tata Institute of Fundamental Research, Bombay, 1973,pp.252-63.

Excavation of Mitathal (1968) and Other Explorations in the Sutlej-Yamuna Divide, Kuruksetra University, Kuruksetra,1975.

Bisht, R. S. 'Excavations at Banawali : 1974-77' in Gregory L. Possehl ed. *Harappan Civilization : A Contemporary Perspective*, Oxford and IBH Publishing Co., New Delhi, 1982, pp.113-24.

Biswas, A. K. 'The Aryan Myth' in A. Ray and S. Mukherji ed. *Historical Archaeology*, Books and Books, New Delhi, 1990, pp. 29-49.

Bose, D. M. , S. M. Sen and B.V. Subbrayappa *A Concise History of Science in India*, National Science Academy, New Delhi,1971.

Burrow, T. *The Sanskrit Language*, Faber and Faber, London, 1955.

'The Proto-Indoaryans' in *Journal of the Royal Asiatic Society*, 1973, pp.123-40.

Caland, W. ed. *The Baudhyana Srautasutra Belonging to the Taittiriya Samhita*, Vol. II, Asiatic Society, Calcutta, 1907.

Dani, A.H. and V.M. Masson ed.*History of Civilizations of Central Asia*, Vol.I, UNESCO Publishing, Paris, 1992.

Dani, A.H. 'Pastoral-agricultural tribes of Pakistan in the Post-Indus period' in A.H. Dani and V.M. Masson ed. *History of Civilizations of Central Asia*, Vol. I, UNESCO Publishing, Paris, 1992,pp. 395-420.

Desai, D. 'Animal (Terracotta Figurines)' in A. Ghosh ed. *An Encyclopaedia of Indian Archaeology*, Vol. I, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1989, pp.338-39.

Deshpande, Madhav M. and Peter Edwin Hook ed. Aryan and Non-Aryan in India, The University of Michigan, Ann Arbor, 1979.

Dhawalikar, M.K. *Cultural Imperialism (Indus Civilization in Western India)*, Books and Books, New Delhi,1995.

Diakonov, I.M. 'On the original home of the speakers of Indo-European' in *The Journal of Indo-European Studies*, Vol.13,1985,

pp.92-201.

Ehrich, Robert W. ed. *Chronologies in Old World Archaeology*, Vol. I, third edn, The University of Chicago Press, Chicago, 1992.

Erdosy, George ' The meaning of Rgvedic pur : Notes on the Vedic landscape' in Jonathon Mark Kenoyer ed. *From Sumer to Meluha Contributions to the Archaeology of South and East Asia in Memory of George F. Dales Jr.*, Wisconsin Archaeological Report, Vol. 3, Madison, 1994, pp. 223-34.

Erdosy, George ed. *The Indo-Aryans of Ancient South Asia Language, Material Culture and Ethnicity*. Walter de Gruyter and Co., Berlin, 1995; First Indian edition, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1997.

Fairservis (Jr.), Walter A. 'Central Asia and the Rgveda : The archaeological evidence' in George Erdosy ed. *The Indo-Aryans of Ancient South Asia*, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1997, pp. 206-12.

Frankfort, Henri-Paul 'New data illustrating the early contacts between Central Asia and the North West of the Sub-Continent ' in Catherine Jarrige ed. *South Asian Archaeology, 1989*, Prehistory Press, Madison, 1992, pp. 97-102.

Gamkrelidge, T.V. and V.V. Ivanov 'The Migrations of Tribes Speaking the Indo-Aryan Dialects from their Original Home in the Near East to their Historical Habitations in Eurasia' in *The Journal of Indo-European Studies*, Vol. 13, No. 1 and 2, 1985, pp. 49-91.

Gamkrelidge, T.V. and V.V. Ivanov *Indo-European and the Indo-Europeans*, Part I, The Text, Mouton de Gruyter, New York, 1995.

Gening, V.F. 'The Cemetery at Sintashta and the Early Indo-Iranian peoples' in *The Journal of Indo-European Studies*, Vol. 7, Nos 3 and 4, 1979, pp. 1-29.

Ghirshman, R. *Iran from the Earliest Times to the Iranian Conquest*, Penguin, 1954.

Ghosh, A. ed. *An Encyclopaedia of Indian Archaeology*, 2 Vols. Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1989.

Grantovsky,E.A. and G.M. Bongard-Levin *The Origin of Aryans from Scythia to India,* Arnold-Heinemann, New Delhi, 1980.

Gupta, S.P. ed. *The Lost Saraswati and the Indus Civilization,* Kusumanjali Publishers, Jodhpur, 1995.

----------' The Indus-Saraswati Civilization : Some New Developments' in S.P. Gupta ed. *The Lost Saraswati and the Indus Civilization,* Kusumanjali Publishers, Jodhpur, 1995, pp. 180-200.

Harmatta, J. 'The emergence of the Indo-Iranians : The Indo-Iranian languages' in A.H. Dani and V.M. Masson ed. *History of Civilizations of Central Asia,* Vol. I, UNESCO Publishing, Paris, 1992, pp. 357-78.

Hiebert, Fredrik T. 'South Asia from a Central Asian perspective', in George Erdosy ed. *The Indo-Aryans of Ancient South Asia,* Munshiram Manoharlal, New Delhi,1997, pp. 192-205.

The Iliad of Homer, tr. E.V. Rieu, reprint , Penguin, Harmondsworth, 1986.

Kachuru, Braj 'Kashmiri and other Dardika Languages' in Norman H. Zide ed. *Current Trends in Linguistics,* Vol. V, *Linguistics in South Asia,* Mouton, The Hague, 1969, pp. 284-306.

Mackay, Ernest *Early Indus Civilization,* Clay and Sons Ltd. London, 1935; 2nd enlarged and revised edn, edited by D. Mackay, Luzac, London, 1948 and Indological Book Corporation, Delhi, 1976.

Mallory, J.P. *In Search of Indo-Europeans Language, Archaeology and Myth,* Thames and Hudson, Paperback edn, London,1991.

_____ ' Migration and Language Change' in *Universitetets Old saksamlings Skrifter Ny rekke, Nr.14, Peregrinatio Gothica III,* Fredrikstad, Norway, 1991, Oslo, 1992, pp. 145-53.

Manik, S. and S. A. Chanchal *The Aryans and the Indus Civilization,* Dinratri Prakashan, Dhaka, 1995.

Masica, Colin P. 'Aryan and Non-Aryan Elements in North Indian Agriculture' in Madhav M. Deshpande and Peter Edwin Hook ed. *Aryan and Non-Aryan in India,* The University of Michigan, Ann Arbor, 1979, pp. 55-151.

Masson, V.M. 'The Bronze Age in Khorasan and Transoxania' in A.H. Dani and V.M. Masson ed. *History of Civilizations of Central Asia,* Volume I, UNESCO Publishing, Paris, 1992, pp. 225-46.

---------- 'The decline of the Bronze Age Civilization and movements of the tribes' in A.H. Dani and V.M. Masson ed. *History of Civilizations of Central Asia,* Voulme I, UNESCO Publishing, Paris, 1992, pp. 337-56.

Max Muller, F. *Biographies of Words and the Home of the Aryans,* Longman, Green, Longmans and Roberts, London, 1888.

McAlpin, David W. 'Linguistic Prehistory: The Dravidian Situation' in M. Deshpande and Peter Edwin Hook ed. **Aryan and Non-Aryan in India,** The Universtity of Michigan, Ann Arbor, 1979, pp. 175-88.

Meadow, Richard 'Continuity and change in the agriculture of the Great Indus Valley: The palaeoethnobotanical and zooarchaeological evidence' in J.M. Kenoyer ed. *Old Problems and New Perspective of the Archaeology of South Asia,* Wisconsin Archaeological Reports, Vol. 2, University of Wisconsin, Madison, 1989, pp. 61-74.

Mishra, V.D. 'Origin and Antiquity of the Painted Grey Ware' in *University of Allahabad Studies,* Volume 2(N.S.), No.1, January 1970, pp.11-24.

Mongait, Alexander *Archaeology in the U.S.S.R.,* Foreign Languages Publishing House, Moscow, 1959.

Monier-Williams, M. *A Sanskrit English Dictionary,* Oxford University Press,reprint, Motilal Banarsidass, Delhi, 1986.

Mughal,M.R. 'Recent archaeological research in the Cholistan desert' in G.L. Possehl ed. *Harappan Civilization : A Contemporary Perspective,* Oxford and IBH Publishing Co., New Delhi, 1982, pp. 107-124.

Nandi, R.N. 'Aryan Settlements and the Rgveda' in *Indian Historical Review,* Volume XI, Nos 1 and 2, July 1994/January 1995, pp. 9-36.

Nyberg, Harri 'The problems of the Aryans and the Soma : The

botanical evidence' in George Erdosy ed. *The Indo-Aryans of Ancient South Asia.* Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1997, pp. 382-406.

The Odyssey of Homer tr. E. V. Rieu, reprint, Penguin, Harmondsworth, 1986.

Parpola, Asko 'The problem of the Aryans and the Soma : Textual - linguistic and archaeological evidence' in George Erdosy ed. *The Indo-Aryans of Ancient South Asia,* Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1997, pp. 353-81.

---------- ' The Coming of the Aryans to Iran and the Cultural and Ethnic Identity of the Dasas' in *International Journal of Dravidian Linguistics,* XVII, No. 2, pp. 85-228.

Possehl, G.L. ed. *Harappan Civilization : A Contemporary Perspective,* Oxford and IBH Publishing Co., New Delhi, 1982.

Raichaudhury, H. C. *Political History of Ancient India,* seventh edn, University of Calcutta, Calcutta, 1972.

Rao, S. R. *Lothal and the Indus Civilization,* Asia Publishing House, Bombay, 1973.

---------- Lothal : *A Harappan Port Town,* Memoirs of the Archaeological Survey of India, No. 78, New Delhi, 1979.

_____ ' New Light on the Post Urban (Late Harappan) Phase of the Indus Civilization in India' in Gregory L. Possehl ed. *Harappan Civilization : A Contemporary Perspective,* Oxford and IBH Publishing Co., New Delhi, 1982, pp. 353-59.

Rau, Willhelm *The Meaning of Pur in Vedic Literature,* Willhelm Fink Verlag, Munchen, 1976.

Renfrew, C. *Archaeology and Language : The puzzle of Indo-European Origins,* Penguin, Harmondsworth, 1989.

Rgveda Samhita with the commentary of Sayana, 5 Vols, Vaidik Samshodhan Mandal, Poona, 1933-35. Tr. of the first six mandalas, H.H. Wilson, London, 1850-57. Tr. under the title *The Hymns of the Rgveda* by Ralph T.H. Griffith, reprint, Motilal Banarsidass, Delhi, 1986. Tr. in German by K.F. Geldner named *Der Rigveda aus dem Sanskrit in Dutsch ubersetzt,* Harvard Oriental Series, Nos 33-35, Harvard

University Press, Cambridge, Massachusetts, 1951-57.

Saha, Meghanad and N.C. Lahiri *History of the Calenders*, Council of Scientific and Industrial Research, New Delhi, 1955, reprint, 1992.

Sankalia, H. D. *Prehistory and Protohistory of India and Pakistan*, Deccan College Postgraduate and Research Institute, Poona, 1974.

Sarianidi, V. I. 'Ancient Bactria : New Aspects of An Old Problem' in *Journal of Central Asia*, Vol.I, No.1, July 1978, pp. 76-77.

Sethna, K.D. *The Problem of Aryan Origin from an Indian Perspective*, S and S Publishers, Calcutta, 1980.

Shaffer, Jim G. 'The Indo-Aryan invasions : cultural myth and archaeological reality' in John R. Luckas ed. *The Peoples of South Asia*, Plenum Press, New York and London, 1984, pp.77-90.

---------- ' The Indus Valley, Baluchistan and Helmand Traditions : Neolithic through Bronze age', in Robert W. Ehrich ed. *Chronologies in Old World Archaeology*, Vol. I, 3rd edn, University of Chicago Press, Chicago, 1991, pp. 441-64.

Shaffer, J.G. and B.K. Thapar 'Pre-Indus and early Indus cultures of Pakistan and India ' in A. H. Dani and V.M. Masson ed. *History of Civilizations of Central Asia*, Vol. I, UNESCO Publishing, Paris, 1992, pp. 247-82.

Sharma, R.S. *Urban Decay in India (c. 300-c.1000)*, Munshiram Manoharlal, New Delhi,1987.

_____ *Sudras in Ancient India*, third edn, Motilal Banarsidass, Delhi, 1990.

_____ *Material Culture and Social Formations in Ancient India*, Macmillan, Delhi, 1997.

_____ *Looking for the Aryans*, Orient Longman, Madras, 1994.

_____ *Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India*, fourth edn, Motilal Banarsidass, Delhi, 1996.

_____ *The State and Varna Formation in the Mid-Ganga Plains An Ethno-archaeological View*, Manohar, Delhi,1996.

_____ Review of L.Kohl and Clare Fawcett ed. *Nationalism, Politics and the Practice of Archaeology* in *Newsletter of Archaeology, Anthropology, History ..... South Asia,* Issue 5/Summer 1997, pp. 17-18.

Singh, Sarva Daman *Ancient Indian Warfare with special reference to the Vedic Period,* E.J. Brill, Leiden, 1965.

Smith, Morton 'What is in a name (in ancient India)' in *The Journal of Indo-European Studies,* 12, 1984, pp. 293-313.

Southworth, Franklin C. 'Lexial Evidence for early contacts between Indo-Aryan and Dravidian' in Madhav M. Deshpande and Peter Edwin Hook ed. Aryan and Non-Aryan in India, The University of Michigan, Ann Arbor,1979, pp. 191-233.

--------- Reconstructing social context from language , Indo-Aryan and Dravidian prehistory' in George Erdosy ed. *The Indo-Aryans of Ancient South Asia,* Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1997, pp. 258-77.

Srivastava, K.M. 'The Myth of Aryan Invasion of Harappan Towns' in B.B. Lal and S.P. Gupta ed. *Frontiers of the Indus Civilization,* Books and Books, New Delhi, 1984, pp. 437-443.

Stacul,G. 'Harappan Post-urban Evidence in the Swat Valley' in B.B. Lal and S.P. Gupta ed. *Frontiers of the Indus Civilization,* Books and Books, New Delhi, 1984, pp. 271-75.

Subbarayappa, B.V. *Indus Script Its Nature and Structure,* New Era Publications, Madras,1996.

Thapar, Romila 'The Theory of Aryan Race and India : History and Politics' in *Social Scientist,* Vol. 24, Nos 1 and 3, January-March 1996, pp. 3-29.

Tosi, M., S. Malek Shahmirzadi and M.A. Joyenda 'The Bronze Age in Iran and Afghanistan' in A.H. Dani and V.M. Masson ed. *History of Civilizations of Central Asia,* Vol. I, UNESCO Publishing, Paris, 1992, pp. 191-224.

Trautmann, Thomas R.'The study of Dravidian Kinship' in Madhav M. Deshpande and Peter Edwin Hook ed. *Aryan and Non-Aryan in*

India, The University of Michigan, Ann Arbor, 1979, pp. 153-173.

---------- *Aryans and British India,* Vistaar Publication, New Delhi, 1997.

Tripathi, Vibha **The Painted Grey Ware : An Iron Age Culture of Northern India,** Concept Publishing, Delhi, 1976.Turner, R.L. **A Comprative Dictionary of the Indo-Aryan languages,** Oxford, University press, London, 1966;

Unger-Hamilton, Romana 'The Epipalaeolithic Southern Levant and the Origins of Cultivation' in *Current Anthropology,* Vol. 30, No.1, Feb. 1989, pp. 88-103.

Vats, M.S. *Excavation at Harappa,* 2 Vols, Government of India, Delhi, 1940.

Wheeler, R.E.M. *The Indus Civilization,* third edn, Cambridge University Press, Cambridge, 1968.

Witzel, Michael 'Rgvedic history : Poets, Chieftains and polities' in George Erdosy ed. *The Indo-Aryans of Ancient South Asia,* Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1997, pp. 307-56.

Wojtilla, Guyla 'The Sanskrit Terminology of Plough' in *Acta Orientalia Academiae Scientiarum Hung.* Tomus, XIII (2-3), 1988, pp. 325-38.

The Zend Avesta, Part I, *The Vendidad,* tr. James Darmesteter, *SBE,* Vol. IV, reprint, Part II, tr. James Darmesteter, *SBE,* Vol. XXIII, reprint, Motilal Banarsidass, Delhi, 1988 and Part III, tr. L.H. Mills, *SBE,* XXXI, reprint, Motilal Banarsidass, Delhi, 1988.

Vol. Zide, Norman H. ed. *Current Trends in Linguistics,* Vol. V, *Linguistics in South Asia,* Mouton, The Hague, 1969.

Zvelebil, M. and K.V. Zvelebil 'Agricultural transition and Indo-European dispersals' in *Antiquity,* Vol. 62, No. 236, Sept. 1988, pp. 574-83.

अनुक्रमणिका

अ

अकाडडी 5
अग्नि पूजा 1, 10, 15, 30, 35, 50, 51, 60
अग्नि वेदि 45
अगेड 52
अजांव सागर 58
अजांव 59
अतरंजी खेड़ा 44
अनातोलिया 1, 4, 6, 13, 14, 41, 53
अनु-द्रहयु 55
अन्नागार 22
अन्द्रोनांवो 36, 39, 46, 47, 48
अनितभा 53
अपामनमात 3
अफगानिस्तान 1, 4, 7, 19, 20, 25, 26 (उत्तरी) 33, 34, 35, 50, 53 (उत्तर) 53 (उत्तर, वल्ख) 55, 57, 61
अमरी 16
अम्बाला 18
अमूदरिया 46, 48, 52, 54, 56
अमावसु 57
अमावसव बंधु 57
अम्बाखेरी 44
अरट्ट 57
अरट्ये 54
अरल सागर 46, 56, 59
अरब सागर 16, 31, 37
अरिसेन 13
अरुकटौ 56
अलबुर्ज पर्वत 49
अलीग्राम 37
अल्लाहपुर 44
अल्हादीनो 16
अलेकजैण्ड्रिया 58
अल्टीन टेपे 12, 61
अलकेन टेपे 56
अवेस्ता 2, 3, 5, 11, 19, 20, 21, 51, 53
अवेस्ताई 9
अश्मन् 39
अश्मयीपुर 39
अश्वपालन 15

अश्व 2, 2, 4, 5, 24
अश्खाबाद 56
अवश्मेघ 11, 15
अस्प (अश्व) 3
अस्फे-अस्प 3
असुर 26
अहिच्छत्र 44
आगेड वंश 13
आद्य एलमी तिथि 26
आद्य हिंद-आर्य 26, 39, 52, 57
आद्य-हिंद-ईरानी 26, 35, 39, 57
आद्य भारतीय 51, 52
आद्य भारतीय भाषा 51
आद्य ईरानी भाषा 51
आद्य-ईरानी 52
आद्य-ईरानी 5, 51
आद्य-वैदिक भाषा 5
आद्य हिंद यूरोपीय 5
आद्य हिंद-ईरानी भाषा 13
आयरलैंड 11
आयव बंधु 57
आयसी किला 21
आयसीपुर (किलेबंद नगर) 22
आर्यावर्त्त 54
आरेवाली पहिया 1, 6, 7, 15, 30, 35, 50, 60
आलमगीर पुर 16, 44
ओवनदी 48, 56
ओम्स्क 56
ओएसिस 57
ओडिसी 3
ओचीन 56

इ

इकवेरी 3
इंद्र 2, 52
इंबा 56
इफेड्रा 11
इरटुश 46, 56
इराक 1, 5, 9, 13, 14
इलियड और ओडिसी 1
इशिम 46, 56
इस्लामाबाद 16, 37, 56
इक्ष्वाकुओ 55
ईरान 1, 3, 4, 6, 7, 12, 14, 33, 34, 40, 41, 42, 50, 51, 52, 60
ईरानी 3, 11
ईरानी पठार 41
ईशली 56

उ

उडाँव 34
उज्जैन 44
उत्तरी काले पालिशदार मृदमांड संस्कृति 17, 28

उत्तरी काले पालिशदार 57, 60
बरतन वाले युग 30, 45
उत्तर कुरु 54, 55, 62
उत्तरी डोनेप्स 59
उत्तर प्रदेश 43
उत्तर मद्र 54, 55, 62
उफा 59
उर्वशी 54, 57

ऋ

ऋगवेद 1, 2, 3, 10, 20, 21, 22, 23, 24, 25, 27, 28, 32, 33, 34, 38, 39, 40, 41, 43, 47, 51, 53, 55, 60, 62, 63
ऋगवेरपुर 44

ए

एलम (आर्यपूर्व दक्षिण ईरान) 12, 13
एलम 33, 60
ऐतरेय ब्राह्मण 20, 55
ऐल 57
ऐल परिवार 54

क

कच्छ 36
कजखस्तान 6, 9, 47, 48,
कटपलान 45
कटपालों 44
कटेलै 37
कन्नड 31
कपाल 41
कयथा 44
क्यूनी फॉर्म लिपि 26
कराची 37
करेसास्य 3
कस्सिपो 5, 13
क्वेटा 16, 37, 50
कश्मीर 36, 37
कसेरी 44
कस्सी 52
काका 33
कान्स्टेण्टीनोवका 58
कावेरी 31
कावुल 37, 53, 56
काला सागर 5, 14, 46, 58, 59
कालीबंगन 10, 16, 17, 24
काशीथल 44
काशी-विदेह 54, 57
किरजिजिया अल्टाई क्षेत्र 7
किला 21
क्रीमियन 58, 59
कीव 58, 59
कुई 31
कुवी 31
कुरमी 33

कुरमाली 33
कुण्ड 33
कुरु 44, 53, 54
कुरु राजा 54
कुरुख 34
कुभा 53
कुमु 53
कुरु-पंचाल 54, 57
कुण्डल 33
कुलव्य 33
कुलाल 33
कुणाल 39
कुल्ली 16
कुरख 31
कुणण काल 26
कुणाण 60
केलिलि 56
केकयो 20
कैस्पियन सागर 41, 46, 49, 51, 52, 56, 59
कृष्णा 31
कोटदीजी 16, 18, 19
कोलमी 31
कोडगु 31
कोक्य 56
कोसल 20
कोण्ड 31
कोकेशियन 59
कौशाम्बी 44
कौषीतकि ब्रह्मण 54
कौटिल्य 55
कौटिल्य अर्थशास्त्र 28
कॉकससी 5
कॉकसस 6, 13, 14, 40, 41, 60
कॉकसस पर्वत 49, 52
काँस्ययुगीन स्टेप संस्कृति (आंद्रोनाँवो संस्कृति) 47
काँस्य युग 24, 25, 51
काँस्ययुगीन सभ्यता 51
काँसा 28, 29, 35

ख

खरोष्ट्री लिपि 26
खलौसा 44
खारकोव 58
खेराई 37
खैवर 60
खोतान 26
खोरासन 41

ग

गढ़वाल 19
गर्त 38, 40
गण 25
गमास्य 3
गलिया 22 (लंबकोणीय ढाँचों पर बनी ईंट से)
गाय 2, 11, 47
गिलगिट 37

गुजरात 9, 20, 29, 33
गुमला 16, 36, 37, 40
गुमला संस्कृति 40
गुशतास्प 3
गुहा 38, 39
गुलेल 40
गेहूँ 48
गैलिगै संस्कृति 39
गो 2
गोंड 11
गोदावरी 31
गोण्डी 31
गोनुर 56
गोमल 8, 16, 39, 40, 43, 60, 62
गोमल (गोमती, ऋग्वेद में) 40
गोमल घाटी 8, 36, 39, 40, 50
गोमल दरे 36
गोमती 20, 37
गोमती (गोमल नदी) 20, 41
गोरगन 49
गोरगन घाटी 51
गंधार 36, 40, 41, 42, 50, 52, 53, 54, 57
गंधार कब्र संस्कृति 38, 52
गंधार संस्कृति 8
गंधार नरावशेष 41
गंगा 31, 37, 44, 45, 56
गांगेय संस्कृति 27

घ

घघर 17, 18, 19, 44
घोडे 1, 2, 3, 4, 5, 7, 8, 9, 11, 14, 20, 21, 24, 30, 35, 36, 38, 40, 43, 45, 47, 48, 51, 57, 60
घोंडे

च

चंहुढ़डो 16
चनाव 16, 31, 37, 44, 56
चपली 58
चंबल 16, 44
चितराल 37
चित्रित धूसर भांड संस्कृति 8, 9, 17, 27, 28, 43, 45
चीन 10, 27, 39
चोलिस्तान क्षेत्र (बहावलपुर) 18

छ

छोटा नागपुर 34

ज

जखेडा 44
जगरोस पर्वत 49
जम्मू 36
जर्मनी 9, 12, 27
जरफुटन 56
जरथुष्ट 3
जरीफ करुना 37
जाजमौ 44
जापान 27
जेरुसलम 49
जैमिनीय ब्राह्मण 55
जोधपुर 44
जोत 5
जोव (यव्यावती) 37
जोव 16
जोव नदी 36, 38

झ

झागंड 36, 37
झूक्कड 36, 37, 56
झेलम 16, 44, 56

ट

टिन 29
टेपे हिसार 3, 41, 42, 49
टेपे गियान 49
टैप 56
टोबोल 56
ट्रीग्रोवय बल्क 56
ट्रांस ऑक्स्याना (अमू दरिया का पार वाला क्षेत्र) 51

ड

डावर कोट 16
डीर 37
डाँन 46, 58, 59

त

तजबेगयब 46
तबरीज 49
तरकस 25
तमिल 31
तक्षशिला हतिथल 37
ताजिकिस्तान 7, 10, 12, 40, 47, 48 60 (दक्षिण) 62 (दक्षिण)
ताप्ती 16, 31
ताम्र-पाषणिक 25, 27
ताम्र पाषण युग 28
ताम्र पाषण कालीन 39
ताम्र पाषणिक बस्तियाँ 29
तारीम 56
ताश-टेपे 56
ताहिखे 56
तिब्बती पठार 39
तिलपत 44
तीर-धनुष 1

तीमार गढ़ 37, 42
तुर्कमेनिस्तान 11, 13, 25, 33, 35, 50, 51,53 (दक्षिण तुर्कमेनिस्तान मर्व), 57, 61
तुरफान 26
तुलु 31
तुरंग टेपे 49
तुर्वस 54
तुल्खर 56
तेलगु 31
तोगोलोक 21
तोड 31
तौतर 56
तंड्रीथूल 56
ताँवे 29

थ

थाना 37

द

दजला 49
दधेरी 44, 45
दमिश्क 49
दरीव्का 58
दस्यु 32, 34
दशरथ 6
दाह संस्कार 9, 10
दाह कर्म 15, 30, 35, 38, 40, 43, 45, 48, 50, 60
दाह कर्म समाधि 43
दास 24, 34
दिल्ली 16, 37, 44, 56
दीधनिकाय 55
दुशांवे 56
देसलपुर 16
द्रविड़ बोलिया 30, 33, 34
द्रविड़ भाषा 30, 33, 34

ध

धनुष 25
धूरी 5
धूरीदार चक्का 40
धूसर भांड 8, 12
धूसर चित्रित भांड 13, 17, 28
धोलावीरा 8, 16, 17
धांगर 31, 34
धांगरी 34

न

नमज़गा 56
नर्मदा 16, 31
नर कंकाल 41
नरावशेष 42
नागर 44, 45
नाभि 5
नासत्य 52
निम्न नीपर 59
निंदोवारी 16
नीपर नदी 4

नीपर 58, 59
नेतुफियन अर्थात
फिलस्तीन 14
नेपाल 34
नेकोनिकोल्स्कोय 56
नैकी 31

प

पकी ईंट 24, 27
पर्जी 31
पणि 32
पमीर पहाड़ 7
परियार 44
पशुबलि 1,10, 11
पश्चिमी एशिया 4, 5, 6, 12, 26
पशुचारी कब्रगाह 60
पहलवा 60
पहाड़ी गधा 5
पहिए 5, 6, (काठ के),6(मिट्टी के बने खिलौने में), 6 (आरे वाले पहिए),7 (मिट्टी के), 8 , 48 (दस दस आरे)
पिराक 8, 36, 37, 38, 41, 43, 50, 62
पाकिस्तान
पाकिस्तान कश्मीर 33
पालिग्रंथ 62
पार्शव 54, 57
पुर 22, 32, 55
पुर्तगाल 27
पुरुलिया जिला 32
पुराण 53, 62
पुरुखा अइल 54
पुरुखा 54, 57
पेट्रो-स्वीस्तुनोवो 58
पेरियानो 36
पेरियानो धुलाई (टीला) 36
पेरियानो धुलाई क्षेत्र 62
पेशावर 37, 53
पेट्रोवकल 56
पोरसास्य (जरयुष्ट्र के पिता) 3
पोलैंड 9

फ

फरात 49
फारस की खाड़ी 23, 49, 56
फिलस्तीन 14
फीनलैंड 13
फीनिश उग्राहक 13
फुरात नदी 52

ब

बकरी 47

बलूची 33
बलूचिस्थान 8, 12, 13, 14, 19, 20, 33, 34, 36, 38, 41, 60, 62
बल्ख्वाले ऊँट 38
बल्खश 46
बलुई मरुभूमि 49
बल्खश झील 56
बस्तर 29
बरुशस्की 31, 33
बहावलपुर (चोलिस्तान क्षेत्र) 18
बहावलपुर 17, 44
बहली (बैक्ट्रिया) 54
बालाकोट 16
बालू 16
बालमबात 37
बिहार 34
बुतकर II 37
बुर्जहोम 39
बेविलोनिया 2, 5
बेश्केंट 56
बेरुत 49
बैक्ट्रिया 26, 34, 38, 50, 52, 54, 60, 62
बोलन दरे 36, 38
बोलन 60
बौद्ध 26
बौद्ध धर्म 61
बौधायान श्रोत सुत्र 55
बौद्ध पोथियाँ 26
ब्रह्मी लिपि 26, 28
ब्राह्मी 26
ब्रहुई 31, 33
ब्रह्मपुत्र 31
बंगला 32

भ

भगवानपुर 8, 16, 45, 56
भरतों 55
भाई-बंधुवाले समाज 29
भूमध्य सागरीय 41, 49
भेंड 47
भैंस 2, 11

म

मकरान किराने 23
मकन-ए-मरी 56
मकबरा 40
मकदूनिया 60
मगध 20
मद्र 44
मथुरा 44
मध्य प्रदेश 29
मध्य एशिया 1, 2, 7, 11, 26, 35, 38, 39, 40, 41, 42, 47, 48, 50, 51, 60, 62

मर्व (दक्षिण तुर्कमेनिस्तान) 52, 56
मलयालम 31
मरुत 2
मरुत देव 53
मत्स्य 44
मश्हद 56
मरीयूपोई 58
महाराष्ट्र 33
महाभारत 53,54
महाकाव्य 62
महल 21
मार्जियाना 34, 38, 50, 57, 62
मातृपूजा 26
माल्टी 31
माल्टीभाषा 34
मितानी 49, 52
मितानी शासक 6
मितानी अभिलेख 21
मितथल 7, 16
मितानिया 13
मिट्टी के ढेलवास 40
मिश्र 2, 41, 52
मुर्द्र को जलाना 1, 43, 48
मुर्द्र को गाड़ना 1,9,43, (मतृक शरीर के टुकड़ों को गाड़नेवाली प्रथा), 48
मुंडारी 34
मुल्तान 37
मुसाखेत 16
मुल्तान 16
मूर्तिकला 3
मृदभांड 43, 45
मृधवाच् (दस्यु, पाणि) 32
मृधवाच (वाध वाच) 32
मेरु 62
मेरु पहाड़ 53, 54
मेसोपोटामिया 13, 14, 26, 41, 49, 51, 52, 53
मैथिली भाषी 34
मोहनजोदड़ो 6, 8, 16, 17, 18, 19, 24, 36
मौर्य 13
मौर्यात्तर 13
मंदिर 21
मंगोलिया 7
मंडीगक 56
मंडिगक 4

य

यम 58
यमुना 16, 31, 37, 44, 56
यव्यावती (यव से समृद्ध) नदी 38
यव्यावती नदी 41
यामन्या संस्कृति 39
यामन्या 57
युद्ध 54

युद्ध-तुर्वस 55
यूनान 1, 5
यूनानी 2, 3, 60
यूराल क्षेत्र 4
यूराल 5, 6, 46, 47, 48, 56, 57, 59
यूक्रेन 10, 11, 57, 58, 60
येनीसी नदी 47, 48

र

रथ 2, 3, 5, 6 (दो या तीन पहिये वाला), 6 (चक्के वाला) 7, 38, 48, 57 (रथ के भाग), 57 (कमानीदार पहिये वाला)
रसा 53
रहमान देरी 16
राखीगढ़ी 16
राजस्थान 10, 18, 19, 33, 36
राजगिर 20
राजगृह (गिरिब्रज पश्चिम पंचाब) 20
राजमहल पहाड़ी 31, 34
राजा कर्ण का किला 44
राज्य 55
रावी 16, 31, 37, 44, 56
रामायण 20
रूस 6, 11, 27, 41, 60 (दक्षिण)
रेशम मार्ग 53
रोजदी 16
रोपड़ 8, 16, 24, 44
रोम 11
रोहिणी 20
स्त्रेदनी स्टाँग 58

ल

लखनऊ 20
लाहौर 16, 37
लिपि 27
लैटिन 2
लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक 53
लोथल 8, 10, 16, 24
लोवनर 37
लोवनर 3, 39
लोहे 28, 43, 45
लोहंजोदड़ो 16

व

वर्ग और वर्ण विभाजित समाज 29
व्यास 54

वरुण 52
वाजपेय यक्ष 5
वाल्हिक 54, 62
वासंती विपुवान
मृगशिरस 20
विद्थ 25
विस्तास्प 3
विषुव विंदु 21
वृक, लांगल, सीर, सीता तथा फाल (हल के भाग) 25
वृषभ (बैल) 2
वेद 2
वेदि 10, 60 (वैदिक अग्नि वेदी)
वेदिया 10 (वैदिक)
वेसनगर 44
वैराट 44
वैराज्य शासन 55
वोल्गा 46, 56, 59
वोल्गा नदी 4, 57
वोल्गा क्षेत्र 35, 41
वोल्गा स्टेप 4
वोल्गा यूराल 39, 59
वंसत विषुव 21

श

शको 60
शतपथ ब्राह्मण 26, 54
शवदाह 36
शहर-ए-सोख्ता 56
शाही दुम्प 12
शाह टेपे 49
शिराज 49
शुक 54
शांतिपर्व 54

स

सतलज 16, 31, 37, 44, 56
सनातन धर्म 63
स्नानागार 22
स्पेन 27
सपली 56
सभा 25
समुद्र 23
समिति 25
संबर 56
समाधि 9
स्याल्क 49
स्याल्क (111 नामक स्थान) 4
सरयू नदी 20, 53
सरयू नदी (हरिरूद्र नदी) 20, 53
सरदार तंत्र 55
सरदार गढ़ 44
सराय कला 16, 37
सरस्वती घाटी 17
सरस्वती नदी 17, 18, 19 (नदीतम)
सलौरा 44
स्वात घाटी 8, 36, 38,

41, 50
स्वात 8, 10, 16, 37, (सवास्तु), 40, 43; 62
स्वात नदी (सुवास्तु नदी) 38, 41
स्वस्तिक 12, 13, 48, 57, 60
सात रथ 3
सायबेरिया 4, 47
सायण 32
सायदू 37
सिकंदर 53, 60
सिंधु-सरस्वती सभ्यता 17
सिंधु घाटी 13, 17, 19, 23, 33, 34, 39, 50
सिंधु 16, 17, 19, 31, 37, 44, 53, 56
सिंधु नदी 18, 40, 55, 62
सिंध 33
सिनतश्ता नदी 47
सिनतश्ता घाटी 35
सिनतश्ता 46, 56, 60
सिरसा 18
सिमेटरी एच 9, 41, 42, 43, 50
सिमेटरी आर 37, 42
सिमेटरी-एच-स्थल 37
सिंह 2
सुक्कुर 16
सुग 44
सुतकगेंडोर 16
सुमेर की लिपि 4
सुरसेन 44
सुरकोटदा 8, 9, 16, 24
सूर्य 2, 3
सेदेनी स्ट्राँग 57
सैधव नगर 22
सैधव सभ्यता 27, 28, 30, 32
सैधव क्षेत्र 30
सैधव सभ्यता 10
सोख 44
सोमरस 1
सोम 23
सोमपान 11, 15, 35, 48, 50, 51
सोम (होम) 11
सोमसेन 13, 52
सौराष्ट्र 36
संस्कृत 5, 34
संधौल 44

ह

हकरा नदी 18
हकरा 17, 18, 19
हकरा-घग्घर 17
हड़प्पा 6, 8, 9, 10, 12, 15, 16, 17, 19, 24, 28, 34, 36,

	37, 41, 43
हड़प्पाई धर्म	26
हड़प्पा लिपि	26, 28, 29
हड़प्पाई फुट	28
हड़प्पाई हाथ	28
हड़प्पाई नरावशेष	41
हड़प्पाई कंकाल	42
हत्ती	5, 6, 26
हथल	37
हरख्वती (हेलमंड नदी)	19
हरख्वती (सरस्वती)	37
हरवामनी शासक	60
हरियाणा	6, 8, 17, 18, 19, 36, 43
हस्तिनापुर	8, 44
हरीरूद्र	16, 37
	(सरयु)
हाथी	2, 45
हास (वैदिक अनुष्ठान चलाने वाले पुरोहित)	29
हिंद-आर्य भाषा	30, 32, 34, 40, 42
हिंद-आर्य	10, 33, 34, 35, 47, 51, 53, 60, 61
हिंद-यूरोपीय	4, 5, 6, 11, 13, 14, 25, 39, 47, 52, 57, 60
हिंद-ईरानी	6, 10, 21, 47, 48
हिंदु-कुश पर्वत	52
हिमालय	53, 54, 55
हिमवंत	62
हिंद महासागर	31
हिबू	5
हिसार	6, 7, 39, 42
हिसार टुटंग टेपे	51
हुण	60
हुरी जातीय समाज	52
हुरी-समुदाय	52
हुलास	16, 44
हेरोडोटस	2
हेलमंड	16, 37, 56
होमर	3, 5, 9
हंगरी	13

त्र

त्रसदस्यु	38

श्र

श्राद्धकर्म	11
श्रावस्ती	44

निदेशालय के श्रेष्ठ प्रकाशन

1.	बीसवीं शताब्दी का विश्व इतिहास : एक झलक भाग-1, भाग-2	स्नेह महाजन
2.	भारतीय उपमहाद्वीप की संस्कृतियां भाग-1 भाग-2	सं. आर.सी.ठाकरान शिव दत्त, संजय कुमार
3.	तुलनात्मक शासन और राजनीति समकालीन प्रवृत्तियाँ	आशा गुप्ता
4.	पूर्वकालीन भारत (प्रारंभ से 1300 ई. तक)	रोमिला थापर
5.	भारतीय इतिहास : एक पुनर्विचार	रामशरण शर्मा
6.	राजनीतिक प्रक्रियाएँ एवं संस्थाएँ एक तुलनात्मक अध्ययन	आशा गुप्ता
7.	सांस्कृतिक इतिहासः एक तुलनात्मक सर्वेक्षण	डा. देवेश विजय
8.	प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत का राजनीतिक चिंतन	सं. रूचि त्यागी
9.	आधुनिक भारत का राजनीतिक चिंतन : एक विमर्श	सं. रूचि त्यागी
10.	भारत के प्रमुख बौद्ध तीर्थ स्थल	प्रिय सेन सिंह
11.	यूरोपीय संस्कृति (1400-1800)	देवेश विजय
12.	प्राचीन भारत का इतिहासः विविध आयाम	डी. एन झा
13.	वेद समकालीन संदर्भ	प्रवेश सक्सेना
14.	भारत में स्त्री असमानताः एक विमर्श	गोपा जोशी
15.	नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मूद्दे	सं. साधना आर्य निवेदिता मेनन जिनी लोकनीता
16.	लोक प्रशासन : बदलते परिपेक्ष्य	रूमकी बासु

यह पुस्तक वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, भारत सरकार के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित की गई है

ISBN 978-93-80172-69-9

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
10, केवेलरी लेन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7
फोनः 011-27666839, 011-27662346

₹ 60/-